अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

अगस्त २०१९

योगी तथा क्रान्तिकारी

विषय-सूची

(श्रीमाँ तथा श्रीअरविन्द के वचन)

प्रार्थना	श्रीमाँ	३
आमन्त्रण (सॉनेट)	श्रीअरविन्द	४
उत्तरपाड़ा भाषण	श्रीअरविन्द	७
तीन पागलपन और पाँच उपलब्धियाँ	श्रीअरविन्द	२०
मेरे गुरु, श्रीअरविन्द	ऋषभचन्द	२८
विवेकानन्द के वचन		२९
चिन्तन (कविता)	स्व. श्री विश्वनाथजी	३०

'पुरोधा'

दैनन्दिनी		३१
नूतन उषा का सन्देश	स्व. रवीन्द्रजी	३५
"छद्मवेश में छिपा आशीर्वाद"	कनिष्ठा	३८
भक्ति के बिना प्रगति नहीं होती	नवजातजी	४२
"मेरी नन्हीं मुस्कान" के नाम पत्र	'श्रीमातृवाणी' से	४५
'योग के तत्त्व' : प्रेम	श्रीअरविन्द	४९
बिखरी सम्पदा ('मधु-सञ्चय' से साभार)	अज्ञात	५४
मैं तेरा! मैं तेरा!...	वन्दना	५५
ए.जी.एम. की सूचना	(आवरण ३)	

पारम्परिक रूप से केसरी रंग बलिदान, पवित्रता और त्याग का प्रतीक रहा है। सर्वांगीण योग के दृष्टिकोण से यह अतिमानसिक-भावापन्न पृथ्वी का, या यूँ कहें कि 'भौतिक में अतिमानसिक ज्योति' के रंग का द्योतक है।

प्रार्थना

१९ मार्च १९१४

हे प्रभो, शाश्वत गुरु, तू, जिसे न तो हम नाम ही दे सकते हैं न समझ ही पाते हैं, परन्तु जिसे हर क्षण अधिकाधिक अनुभव करना चाहते हैं, हमारी बुद्धि को प्रबुद्ध कर, हमारे हृदयों को प्रकाशित कर, हमारी चेतना का रूपान्तर कर; वर दे कि हर एक व्यक्ति सच्चे जीवन की ओर जागे, अहंकार और उसके पिछलग्गू दुःख और सन्ताप से भागे और तेरे दिव्य और शुद्ध 'प्रेम' में शरण ले जो समस्त शान्ति और समस्त सुख का मूल स्रोत है।

मेरा हृदय तुझसे इतना भरा हुआ है कि ऐसा लगता है कि वह अनन्तता में फैल रहा है और मेरी बुद्धि तेरी 'उपस्थिति' से पूर्णतया आलोकित होकर शुद्धतम हीरे की तरह चमक रही है। तू अद्‌भुत जादूगर है जो सभी चीज़ों को रूपान्तरित कर देता है, कुरूपता में से सुन्दरता निकालता है, अँधेरे में से प्रकाश को लाता है, कीचड़ में से निर्मल जल, अज्ञान में से ज्ञान और अहंकार में से भलाई निकाल लाता है।

तेरे अन्दर, तेरे द्वारा, तेरे लिए हम जीते हैं और तेरा विधान हमारे जीवन का परम स्वामी है।

वर दे कि हर जगह तेरी इच्छा पूरी हो, तेरी शान्ति समस्त भू पर राज्य करे।

—श्रीमाँ

आमन्त्रण

(सॉनेट)

अपने चारों ओर टकराते मौसम और झञ्झावात को लेकर
मैं बञ्जर भूमि की ओर कर रहा प्रस्थान और ऊपर पर्वत पर।
कौन आयेगा मेरे साथ? कौने मेरे संग करेगा अध्यारोहण?
विषम सरिता को पैदल करेगा पार और बर्फ़ के बीच करेगा सञ्चरण?

तुम्हारे द्वारों और तुम्हारी दीवारों से संवृत
नगरों की संकीर्ण परिधि में नहीं है मेरा वास;
परमात्मा है मेरे ऊपर का नील आकाश,
मेरे सम्मुख है पवन और झञ्झावात का उत्पात।

यहाँ अपने प्रदेशों में एकाकीपन से मैं करता मनोविनोद,
विपद् और दुर्भाग्य को बनाया है मैंने अपना सुहृद्।
कौन रहेगा विशाल होकर? कौन जियेगा होकर स्वाधीन?
यहाँ पवन से परिमार्जित उच्चभूमियों पर करके आरोहण।

मैं हूँ पर्वत और तूफ़ान का अधीश्वर,
मैं स्वातन्त्र्य और स्वाभिमान का हूँ चैत्यात्मन्।
जो मेरे साथ चले और मेरे राज्य का हो अंशधर
उसे होना चाहिये अटल और संकटों का ज्ञातिजन।

—श्रीअरविन्द

... जैसे ही मैंने श्रीअरविन्द को देखा,
मैं पहचान गयी कि ये वही सत्ता हैं,
जिन्हें मैं कृष्ण कहा करती थी।

—श्रीमाँ

उत्तरपाड़ा भाषण

(अलीपुर जेल से छूटने के बाद श्रीअरविन्द का पहला महत्त्वपूर्ण भाषण ३० मई १९०९ को उत्तरपाड़ा में हुआ था। इसमें उन्होंने अपने जेल-जीवन का आध्यात्मिक अनुभव सुनाया और साथ ही देश को सच्ची राष्ट्रीयता का सन्देश दिया। इसमें उन्होंने बताया है कि सच्चा हिन्दू धर्म, सच्चा सनातन धर्म क्या है और आज के संसार को उसकी क्यों ज़रूरत है! उनका यह भाषण उनके जीवन में एक नये मोड़ का परिचय देता है।—सं.)

सन् २०१९ उनके इस ऐतिहासिक भाषण की ११०वीं जयन्ती मना रहा है।

जब मुझे आपकी 'सभा' के इस वार्षिक अधिवेशन में बोलने के लिए कहा गया, तो मैंने यही सोचा था कि आज के लिए जो विषय चुना गया है उसी पर, अर्थात् हिन्दू धर्म पर कुछ कहूँगा। मैं नहीं जानता कि उस इच्छा को मैं पूरा कर सकूँगा या नहीं; क्योंकि जैसे ही मैं यहाँ आकर बैठा मेरे मन में एक सन्देश आया और यह सन्देश मुझे आपको और सारे भारत-राष्ट्र को सुनाना है। यह वाणी मुझे पहले-पहल जेल में सुनायी दी थी और उसे अपने देशवासियों को सुनाने के लिए मैं जेल से बाहर आया हूँ।

पिछली बार जब मैं यहाँ आया था उसे एक वर्ष से ऊपर हो चुका है। उस बार मैं अकेला न था; तब मेरे साथ ही बैठे थे राष्ट्रीयता के एक परम शक्तिमान् दूत। उन दिनों वे उस एकान्तवास से लौट कर आये थे जहाँ उन्हें भगवान् ने इसलिए भेजा था कि वे अपनी कालकोठरी की शान्ति और निर्जनता में उस वाणी को सुन सकें जो उन्हें सुनानी थी। उस समय आप सैकड़ों की संख्या में उन्हीं का स्वागत करने आये थे। आज वे हमसे बहुत दूर हैं, हज़ारों मील के फ़ासले पर हैं। दूसरे लोग भी, जिन्हें मैं अपने साथ काम करते हुए पाता था, आज अनुपस्थित हैं। देश पर जो तूफ़ान आया था उसने उन्हें दूर-दूर बिखेर दिया है। इस बार मैं एक वर्ष निर्जनवास में बिता कर आया हूँ और अब बाहर आकर देखता हूँ कि सब कुछ बदल गया है। जो सदा मेरे साथ बैठते थे, जो सदा मेरे काम में सहयोग दिया करते थे, आज बर्मा में क़ैद हैं; दूसरे उत्तर में नज़रबन्द होकर

सड़ रहे हैं। जब मैं बाहर आया तो मैंने अपने चारों ओर देखा, जिनसे सलाह और प्रेरणा पाने का अभ्यास था उन्हें खोजा। वे मुझे नहीं मिले। इतना ही नहीं, जब मैं जेल गया था तो सारा देश 'वन्दे मातरम्' की ध्वनि से गूँज रहा था, वह एक राष्ट्र बनने की आशा से जीवित था। यह उन करोड़ों मनुष्यों की आशा थी जो गिरी हुई दशा से अभी-अभी ऊपर उठे थे। जब मैं जेल से बाहर आया तो मैंने इस ध्वनि को सुनने की कोशिश की, किन्तु इसके स्थान पर छायी हुई थी निस्तब्धता। देश में सन्नाटा था और लोग हक्के-बक्के-से दिखायी दिये; क्योंकि जहाँ पहले हमारे सामने भविष्य की कल्पना से भरा ईश्वर का उज्ज्वल स्वर्ग था वहाँ हमारे सिर पर धूसर आकाश दिखायी दिया जिससे मानवीय वज्र और बिजली की वर्षा हो रही थी। किसी को यह न दिखायी देता था कि किस ओर चलना चाहिये, और चारों ओर से यही प्रश्न उठ रहा था, "अब क्या करें? हम क्या कर सकते हैं?" मुझे भी पता न था कि किस ओर चलना चाहिये और अब क्या किया जा सकता है। लेकिन एक बात मैं जानता था, ईश्वर की जिस महान् शक्ति ने उस ध्वनि को जगाया था, उस आशा का सञ्चार किया था उसी शक्ति ने यह सन्नाटा भेजा है। जो ईश्वर उस कोलाहल और आन्दोलन में थे, वे ही इस विश्राम और निस्तब्धता में भी हैं। ईश्वर ने इसे भेजा है ताकि राष्ट्र क्षण-भर के लिए रुक कर अपने अन्दर खोजे और जाने कि उनकी इच्छा क्या है। इस निस्तब्धता से मैं निरुत्साहित नहीं हुआ हूँ, क्योंकि कारागार में इस निस्तब्धता के साथ मेरा परिचय हो चुका है और मैं जानता हूँ कि मैंने एक वर्ष की लम्बी क़ैद के विश्राम और निस्तब्धता में ही यह पाठ पढ़ा है। जब विपिनचन्द्र पाल जेल से बाहर आये तो वे एक सन्देश लेकर आये थे और वह प्रेरणा से मिला हुआ सन्देश था। उन्होंने यहाँ जो वक्तृता दी थी वह मुझे याद है। उस वक्तृता का मर्म और अभिप्राय उतना राजनीतिक नहीं था जितना धार्मिक था। उन्होंने उस समय जेल के अन्दर मिली हुई अनुभूति की, हम सबके अन्दर जो भगवान् हैं उनकी, राष्ट्र के अन्दर जो परमेश्वर हैं उनकी बात की थी। अपने बाद के व्याख्यानों में भी उन्होंने कहा था कि इस आन्दोलन में जो शक्ति काम कर रही है वह सामान्य शक्ति की अपेक्षा महान् है और इसका हेतु भी साधारण हेतु से कहीं बढ़ कर है। आज मैं भी आपसे फिर मिल रहा हूँ,

मैं भी जेल से बाहर आया हूँ और इस बार भी आप ही, इस उत्तरपाड़ा के निवासी ही, मेरा सबसे पहले स्वागत कर रहे हैं। किसी राजनीतिक सभा में नहीं, बल्कि उस समिति की सभा में जिसका उद्देश्य है धर्म की रक्षा। जो सन्देश विपिनचन्द्र पाल ने बक्सर जेल में पाया था वही भगवान् ने मुझे अलीपुर में दिया। वह ज्ञान भगवान् ने मुझे बारह महीने के कारावास में दिन-प्रतिदिन दिया और आदेश दिया है कि अब जब मैं जेल से बाहर आ गया हूँ तो आपसे उसकी बात करूँ।

मैं जानता था कि मैं जेल से बाहर निकल आऊँगा। यह वर्ष-भर की नज़रबन्दी केवल एक वर्ष के एकान्तवास और प्रशिक्षण के लिए थी। भला किसी के लिए यह कैसे सम्भव होता कि वह मुझे जेल में उतने दिनों से अधिक रोक रखता जितने दिन भगवान् का हेतु सिद्ध करने के लिए आवश्यक थे? भगवान् ने कहने के लिए एक सन्देश दिया है और करने के लिए एक काम, मैं यह जानता था कि जब तक यह सन्देश सुना नहीं दिया जाता जब तक कोई मानव-शक्ति मुझे चुप नहीं कर सकती, जब तक वह काम नहीं हो जाता तब तक कोई मानव-शक्ति भगवान् के यन्त्र को रोक नहीं सकती, फिर वह यन्त्र चाहे कितना ही दुर्बल, कितना ही सामान्य क्यों न हो। अब, जब कि मैं बाहर आ गया हूँ, इन चन्द मिनटों में ही मुझे एक ऐसी वाणी सुझायी गयी है जिसे व्यक्त करने की मेरी कोई इच्छा न थी। मेरे मन में जो कुछ था उसे भगवान् ने निकाल कर फेंक दिया है और मैं जो कुछ बोल रहा हूँ वह एक प्रेरणा के वश होकर, बाध्य होकर बोल रहा हूँ।

जब मुझे गिरफ़्तार करके जल्दी-जल्दी लालबाज़ार की हाजत में पहुँचाया गया तो मेरी श्रद्धा क्षण-भर के लिए डिग गयी थी, क्योंकि उस समय मैं भगवान् की इच्छा के मर्म को नहीं जान पाया था। इसलिए मैं क्षण-भर के लिए विचलित हो गया और अपने हृदय में भगवान् को पुकार कर कहने लगा, "यह क्या हुआ? मेरा यह विश्वास था कि मुझे अपने देशवासियों के लिए कोई विशेष कार्य करना है और जब तक वह कार्य पूरा नहीं हो जाता तब तक तुम मेरी रक्षा करोगे। तब फिर मैं यहाँ क्यों हूँ और वह भी इस प्रकार के अभियोग में?" एक दिन बीता, दो दिन बीते, तीन दिन बीत गये, तब मेरे अन्दर से एक आवाज़ आयी, "ठहरो और देखो कि क्या

होता है।" तब मैं शान्त हो गया और प्रतीक्षा करने लगा। मैं लालबाज़ार थाने से अलीपुर जेल में ले जाया गया और वहाँ मुझे एक महीने के लिए मनुष्यों से दूर एक निर्जन कालकोठरी में रखा गया। वहाँ मैं अपने अन्दर विद्यमान भगवान् की वाणी सुनने के लिए, यह जानने के लिए कि वे मुझसे क्या कहना चाहते हैं और यह सीखने के लिए कि मुझे क्या करना होगा, रात-दिन प्रतीक्षा करने लगा। इस एकान्तवास में मुझे सबसे पहली अनुभूति हुई, पहली शिक्षा मिली। उस समय मुझे याद आया कि गिरफ़्तारी से एक महीना या उससे भी कुछ अधिक पहले मुझे यह आदेश मिला था कि मैं अपने सारे कर्म छोड़ कर एकान्त में चला जाऊँ और अपने अन्दर खोज करूँ ताकि भगवान् के साथ अधिक सम्पर्क में आ सकूँ। मैं दुर्बल था और उस आदेश को स्वीकार न कर सका। मुझे अपना कार्य बहुत प्रिय था और हृदय में इस बात का अभिमान था कि यदि मैं न रहूँ तो इस कार्य को धक्का पहुँचेगा, इतना ही नहीं, शायद असफल और बन्द भी हो जायेगा; इसलिए मुझे कार्य नहीं छोड़ना चाहिये। ऐसा बोध हुआ कि वे मुझसे फिर बोले और उन्होंने कहा कि, "जिन बन्धनों को तोड़ने की शक्ति तुममें नहीं थी उन्हें तुम्हारे लिए मैंने तोड़ दिया है क्योंकि मेरी यह इच्छा नहीं है और न थी ही कि वे कार्य जारी रहें। तुम्हारे करने के लिए मैंने दूसरा काम चुना है और उसी के लिए मैं तुम्हें यहाँ लाया हूँ ताकि मैं तुम्हें वह बात सिखा दूँ जिसे तुम स्वयं नहीं सीख सके और तुम्हें अपने काम के लिए तैयार कर लूँ।" इसके बाद भगवान् ने मेरे हाथों में *गीता* रख दी। मेरे अन्दर उनकी शक्ति प्रवेश कर गयी और मैं *गीता* की साधना करने में समर्थ हुआ। मुझे केवल बुद्धि द्वारा ही नहीं, बल्कि अनुभूति द्वारा भी जानना था कि श्रीकृष्ण की अर्जुन से क्या माँग थी और वे उन लोगों से क्या माँगते हैं जो उनका कार्य करने की इच्छा रखते हैं, अर्थात् घृणा और कामना-वासना से मुक्त होना होगा, फल की इच्छा न रख कर भगवान् के लिए कर्म करना होगा, अपनी इच्छा का त्याग करना होगा और निश्चेष्ट तथा सच्चा यन्त्र बन कर भगवान् के हाथों में रहना होगा, ऊँच और नीच, मित्र और शत्रु, सफलता और विफलता के प्रति समदृष्टि रखनी होगी और यह सब होते हुए भी उनके कार्य में कोई अवहेलना न आने पाये। मैंने यह जाना कि हिन्दू धर्म का मतलब क्या है। बहुधा

हम हिन्दू धर्म, सनातन धर्म की बातें करते हैं, किन्तु वास्तव में हममें से कम ही लोग यह जानते हैं कि यह धर्म क्या है। दूसरे धर्म मुख्य रूप से विश्वास, व्रत, दीक्षा और मान्यता को महत्त्व देते हैं, किन्तु सनातन धर्म तो स्वयं जीवन है, यह इतनी विश्वास करने की चीज़ नहीं है जितनी जीवन में उतारने की चीज़ है। यही वह धर्म है जिसे मानवजाति के कल्याण के लिए प्राचीन काल से इस प्रायद्वीप के एकान्तवास में सँजोया जाता रहा है। यही धर्म देने के लिए भारत उठ रहा है। भारतवर्ष, दूसरे देशों की तरह, अपने लिए ही या मज़बूत होकर दूसरों को कुचलने के लिए नहीं उठ रहा। वह उठ रहा है सारे संसार पर वह सनातन ज्योति बिखरने के लिए जो उसे सौंपी गयी है। भारत का जीवन सदा ही मानवजाति के लिए रहा है, उसे अपने लिए नहीं बल्कि मानवजाति के लिए महान् होना है।

अतः, भगवान् ने मुझे यह दूसरी वस्तु दिखायी—उन्होंने मुझे हिन्दू धर्म के मूल सत्य का साक्षात्कार करा दिया। उन्होंने मेरे जेलरों के दिल को मेरी ओर मोड़ दिया, उन्होंने जेल के प्रधान अंग्रेज़ अधिकारी से कहा कि "ये कालकोठरी में बहुत कष्ट पा रहे हैं; इन्हें कम-से-कम सुबह-शाम आध-आध घण्टा कोठरी के बाहर टहलने की अनुमति दे दी जाये।" यह अनुमति मिल गयी और जब मैं टहल रहा था तो भगवान् की शक्ति ने फिर मेरे अन्दर प्रवेश किया। मैंने उस जेल की ओर दृष्टि डाली जो मुझे और लोगों से अलग किये हुए था। मैंने देखा कि अब मैं उसकी ऊँची दीवारों के अन्दर बन्दी नहीं हूँ; मुझे घेरे हुए थे वासुदेव। मैं अपनी कालकोठरी के सामने के पेड़ की शाखाओं के नीचे टहल रहा था, परन्तु वहाँ पेड़ न था, मुझे प्रतीत हुआ कि वे वासुदेव हैं; मैंने देखा कि स्वयं श्रीकृष्ण खड़े हैं और मेरे ऊपर अपनी छाया किये हुए हैं। मैंने अपनी कालकोठरी के सींख़चों की ओर देखा, उस जाली की ओर देखा जो दरवाज़े का काम कर रही थी, वहाँ भी वासुदेव दिखायी दिये। स्वयं नारायण सन्तरी बन कर पहरा दे रहे थे। जब मैं उन मोटे कम्बलों पर लेटा जो मुझे पलंग की जगह मिले थे तो मैंने यह अनुभव किया कि मेरे सखा और प्रेमी श्रीकृष्ण मुझे अपनी बाहुओं में लिये हुए हैं। मुझे उन्होंने जो गहरी दृष्टि दी थी उसका यह पहला प्रयोग था। मैंने जेल के क़ैदियों—चोरों, हत्यारों और बदमाशों—को देखा और मुझे वासुदेव दिखायी पड़े, अँधेरे में पड़ी

उन आत्माओं और बुरी तरह काम में लाये गये शरीरों में मुझे नारायण मिले। उन चोरों और डाकुओं में बहुत-से ऐसे थे जिन्होंने अपनी सहानुभूति और दया के द्वारा मुझे लज्जित कर दिया, इन विपरीत परिस्थितियों में मानवता विजयी हुई थी। इनमें से एक आदमी को मैंने विशेष रूप से देखा जो मुझे एक सन्त मालूम हुआ। वह हमारे देश का एक किसान था जो लिखना-पढ़ना नहीं जानता था, जिसे तथाकथित डकैती के अभियोग में दस वर्ष का कठोर दण्ड मिला था। यह उनमें से एक व्यक्ति था जिन्हें हम वर्ग के मिथ्याभिमान में आकर "छोटो लोक" (नीच) कहा करते हैं। फिर एक बार भगवान् मुझसे बोले, उन्होंने कहा, "अपना कुछ थोड़ा-सा काम करने के लिए मैंने तुम्हें जिनके बीच भेजा है उन लोगों को देखो। जिस जाति को मैं ऊपर उठा रहा हूँ उसका स्वरूप यही है और इसी कारण मैं उसे ऊपर उठा रहा हूँ।"

जब छोटी अदालत में मुक़द्दमा शुरू हुआ और हमलोग मजिस्ट्रेट के सामने खड़े किये गये तो वहाँ भी मेरी अन्तर्दृष्टि मेरे साथ थी। भगवान् ने मुझसे कहा, "जब तुम जेल में डाले गये थे तो क्या तुम्हारा हृदय हताश नहीं हुआ था, क्या तुमने मुझे पुकार कर यह नहीं कहा था—कहाँ, तुम्हारी रक्षा कहाँ है? लो, अब मजिस्ट्रेट की ओर देखो, सरकारी वकील की ओर देखो।" मैंने देखा कि अदालत की कुर्सी पर मजिस्ट्रेट नहीं, स्वयं वासुदेव, नारायण बैठे थे। अब मैंने सरकारी वकील की ओर देखा पर वहाँ कोई सरकारी वकील नहीं दिखायी दिया, वहाँ तो श्रीकृष्ण बैठे मुस्कुरा रहे थे, मेरे सखा, मेरे प्रेमी। उन्होंने कहा, "अब डरते हो? मैं सभी मनुष्यों में विद्यमान हूँ और उनके सभी कर्मों और शब्दों पर राज करता हूँ। मेरा संरक्षण अब भी तुम्हारे साथ है, और तुम्हें डरना नहीं चाहिये। तुम्हारे विरुद्ध जो यह मुक़द्दमा चलाया गया है उसे मेरे हाथों में सौंप दो। यह तुम्हारे लिए नहीं है। मैं तुम्हें यहाँ मुक़द्दमे के लिए नहीं बल्कि किसी और काम के लिए लाया हूँ। यह तो मेरे काम का एक साधनमात्र है, इससे अधिक कुछ नहीं।" इसके बाद जब सेशन जज की अदालत में विचार आरम्भ हुआ तो मैं अपने वकील के लिए ऐसी बहुत-सी हिदायतें लिखने लगा कि गवाही में मेरे विरुद्ध कही गयी बातों में से कौन-सी बातें ग़लत हैं और किन-किन पर गवाहों से जिरह की जा सकती है। तब एक ऐसी घटना

घटी जिसकी मैं आशा नहीं करता था। मेरे मुक़द्दमे की पैरवी के लिए जो प्रबन्ध किया गया था वह एकाएक बदल गया और मेरी सफ़ाई के लिए एक दूसरे ही वकील खड़े हुए। वे अप्रत्याशित रूप से आ गये, वे मेरे एक मित्र थे, किन्तु मैं नहीं जानता था कि वे आयेंगे। आप सभी ने उनका नाम सुना है, जिन्होंने मन से सभी विचार निकाल बाहर किये और इस मुक़द्दमे के सिवा सारी वकालत बन्द कर दी, जिन्होंने महीनों लगातार आधी-आधी रात तक जग कर मुझे बचाने के लिए अपना स्वास्थ्य बिगाड़ लिया—वे हैं श्री चित्तरंजन दास। जब मैंने उन्हें देखा तो मुझे सन्तोष हुआ, फिर भी मैं समझता था कि हिदायतें लिखनी ज़रूरी हैं। इसके बाद यह विचार भी हटा दिया गया और मेरे अन्दर से आवाज़ आयी, "यही वह व्यक्ति है जो तुम्हारे पैरों के चारों ओर फैले जाल से तुम्हें बाहर निकालेगा। तुम इन काग़ज़ों को अलग धर दो। इन्हें तुम हिदायतें नहीं दोगे, मैं दूँगा।" उस समय से इस मुक़द्दमे के सम्बन्ध में मैंने अपनी ओर से अपने वकील से एक शब्द भी नहीं कहा, कोई हिदायत नहीं दी और यदि कभी मुझसे कोई सवाल पूछा गया तो मैंने सदा यही देखा कि मेरे उत्तर से मुक़द्दमे को कोई मदद नहीं मिली। मैंने मुक़द्दमा उन्हें सौंप दिया और उन्होंने पूरी तरह उसे अपने हाथों में ले लिया, और उसका परिणाम आप जानते ही हैं। मैं सदा यह जानता था कि मेरे सम्बन्ध में भगवान् की क्या इच्छा है, क्योंकि मुझे बार-बार यह वाणी सुनायी पड़ती थी, मेरे अन्दर से सदा यह आवाज़ आया करती थी, "मैं रास्ता दिखा रहा हूँ, इसलिए डरो मत। मैं तुम्हें जिस काम के लिए जेल में लाया हूँ अपने उस काम की ओर मुड़ो और जब तुम जेल से बाहर निकलो तो यह याद रखना—कभी डरना मत, कभी हिचकिचाना मत। याद रखो, यह सब मैं कर रहा हूँ, तुम या कोई और नहीं। अतः, चाहे जितने बादल घिरें, चाहे जितने ख़तरे और दुःख-कष्ट आयें, कठिनाइयाँ हों, चाहें जितनी असम्भवताएँ आयें, कुछ भी असम्भव नहीं है, कुछ भी कठिन नहीं है। मैं इस देश और उसके उत्थान में हूँ, मैं वासुदेव हूँ, मैं नारायण हूँ। जो कुछ मेरी इच्छा होगी वही होगा, दूसरों की इच्छा से नहीं। मैं जिस चीज़ को लाना चाहता हूँ उसे कोई मानव-शक्ति रोक नहीं सकती।"

इस बीच वे मुझे उस एकान्त कालकोठरी से बाहर ले आये और मुझे

उन लोगों के साथ रख दिया जिन पर मेरे साथ ही अभियोग चल रहा था। आज आपने मेरे आत्म-त्याग और देश-प्रेम के बारे में बहुत कुछ कहा है। मैं जब से जेल से निकला हूँ तब से इसी प्रकार की बातें सुनता आ रहा हूँ, किन्तु ऐसी बातें सुनने से मुझे लज्जा आती है, मेरे अन्दर एक तरह की वेदना होती है। क्योंकि मैं अपनी दुर्बलता जानता हूँ, मैं अपने दोषों और त्रुटियों का शिकार हूँ। मैं इन बातों के बारे में पहले भी अन्धा न था और जब मेरे एकान्तवास में, ये सब-की-सब मेरे विरुद्ध खड़ी हो गयीं तो मैंने इनका पूरी तरह अनुभव किया। तब मुझे मालूम हुआ कि मनुष्य के नाते मैं दुर्बलताओं का एक ढेर हूँ, एक दोष-भरा अपूर्ण यन्त्र हूँ, मुझमें ताक़त तभी आती है जब कोई उच्चतर शक्ति मेरे अन्दर आ जाये। अब मैं उन युवकों के बीच में आया और मैंने देखा कि उनमें से बहुतों में एक प्रचण्ड साहस और शक्ति है अपने को मिटा देने की और उनकी तुलना में मैं कुछ भी नहीं हूँ। इनमें से एक-दो ऐसे थे जो केवल बल और चरित्र में ही मुझसे बढ़ कर नहीं थे—ऐसे तो बहुत थे—बल्कि मैं जिस बुद्धि की योग्यता का अभिमान रखता था, उसमें भी बढ़े हुए थे। भगवान् ने मुझसे फिर कहा, "यही वह युवक-दल, वह नवीन और बलवान् जाति है जो मेरे आदेश से ऊपर उठ रही है। ये तुमसे अधिक बड़े हैं। तुम्हें भय किस बात का है? यदि तुम इस काम से हट जाओ या सो जाओ तो भी काम पूरा होगा। कल तुम इस काम से हटा दिये जाओ तो ये युवक तुम्हारे काम को उठा लेंगे और उसे इतने प्रभावशाली ढंग से करेंगे जैसे तुमने भी नहीं किया। तुम्हें इस देश को एक वाणी सुनाने के लिए मुझसे कुछ बल मिला है, यह वाणी इस जाति को ऊपर उठाने में सहायता देगी।" यह वह दूसरी बात थी जो भगवान् ने मुझसे कही।

इसके बाद अचानक कुछ हुआ और क्षण-भर में मुझे कालकोठरी के एकान्तवास में पहुँचा दिया गया। इस एकान्तवास में मेरे अन्दर क्या हुआ यह कहने की प्रेरणा नहीं हो रही, बस इतना काफ़ी है कि वहाँ दिन-प्रतिदिन भगवान् ने अपने चमत्कार दिखाये और मुझे हिन्दू धर्म के वास्तविक सत्य का साक्षात्कार कराया। पहले मेरे अन्दर अनेक प्रकार के सन्देह थे। मेरा लालन-पालन इंग्लैंड में विदेशी भावों और सर्वथा विदेशी वातावरण में हुआ था। एक समय मैं हिन्दू धर्म की बहुत-सी बातों को मात्र कल्पना

समझता था, यह समझता था कि इसमें बहुत कुछ केवल स्वप्न, भ्रम या माया है। परन्तु अब दिन-प्रतिदिन मैंने हिन्दू धर्म के सत्य को, अपने मन में, अपने प्राण में और अपने शरीर में अनुभव किया। वे मेरे लिए जीवित अनुभव हो गये और मेरे सामने ऐसी सब बातें प्रकट होने लगीं जिनके बारे में भौतिक विज्ञान कोई व्याख्या नहीं दे सकता। जब मैं पहले-पहल भगवान् के पास गया तो पूरी तरह भक्ति-भाव के साथ नहीं गया था, पूरी तरह ज्ञानी के भाव से भी नहीं गया था। बहुत दिन हुए, स्वदेशी-आन्दोलन शुरू होने से पहले और मेरे सार्वजनिक काम में प्रवेश करने से कुछ वर्ष पहले बड़ौदा में मैं उनकी ओर बढ़ा था।

उन दिनों जब मैं भगवान् की ओर बढ़ा तो मुझे उन पर जीवन्त श्रद्धा न के बराबर थी। उस समय मेरे अन्दर अज्ञेयवादी था, नास्तिक था, सन्देहवादी था और मुझे पूरी तरह विश्वास न था कि भगवान् हैं भी। मैं उनकी उपस्थिति का अनुभव नहीं करता था। फिर भी कोई चीज़ थी जिसने मुझे वेद के सत्य की ओर, *गीता* के सत्य की ओर, हिन्दू धर्म के सत्य की ओर आकर्षित किया। मुझे लगा कि इस योग में कहीं पर कोई महा शक्तिशाली सत्य अवश्य है, वेदान्त पर आधारित इस धर्म में कोई परम बलशाली सत्य अवश्य है। इसलिए जब मैं योग की ओर मुड़ा और योगाभ्यास करके मैंने यह जानने का संकल्प किया कि मेरा सोचना सही है या नहीं तो मैंने उसे इस भाव और इस प्रार्थना से शुरू किया। मैंने कहा, "हे प्रभो, यदि तुम हो तो तुम मेरे हृदय की बात जानते हो। तुम जानते हो कि मैं मुक्ति नहीं माँगता, मैं ऐसी कोई चीज़ नहीं माँगता जो दूसरे माँगा करते हैं। मैं केवल इस जाति को ऊपर उठाने की शक्ति माँगता हूँ, मैं केवल यह माँगता हूँ कि मुझे इस देश के लोगों के लिए, जिनसे मैं प्यार करता हूँ, जीने और कर्म करने की अनुमति मिले और यह प्रार्थना करता हूँ कि मैं अपना जीवन उनके लिए लगा सकूँ।" मैंने योग-सिद्धि पाने के लिए बहुत दिनों तक प्रयास किया और अन्त में किसी हद तक मुझे मिली भी, पर जिस बात के लिए मेरी बहुत अधिक इच्छा थी उसके सम्बन्ध में मुझे सन्तोष नहीं हुआ। तब उस जेल के, उस कालकोठरी के एकान्तवास में मैंने उसके लिए फिर से प्रार्थना की। मैंने कहा, "मुझे अपना आदेश दो, मैं नहीं जानता कि कौन-सा काम करूँ और कैसे करूँ। मुझे एक सन्देश

दो।" इस योगयुक्त अवस्था में मुझे दो सन्देश मिले। पहला यह था, "मैंने तुम्हें एक काम सौंपा है और वह है इस जाति के उत्थान में सहायता देना। शीघ्र ही वह समय आयेगा जब तुम्हें जेल के बाहर जाना होगा; क्योंकि मैं नहीं चाहता कि इस बार तुम्हें सज़ा हो या तुम अपना समय, औरों की तरह अपने देश के लिए कष्ट सहते हुए बिताओ। मैंने तुम्हें काम के लिए बुलाया है और यही वह आदेश है जो तुमने माँगा था। मैं तुम्हें आदेश देता हूँ कि जाओ और मेरा काम करो।" दूसरा सन्देश आया, वह इस प्रकार था, "इस एक वर्ष के एकान्तवास में तुम्हें कुछ दिखाया गया है, वह चीज़ दिखायी गयी है जिसके बारे में तुम्हें सन्देह था, वह है हिन्दू धर्म का सत्य। इसी धर्म को मैं संसार के सामने उठा रहा हूँ, यही वह धर्म है जिसे मैंने ऋषि-मुनियों और अवतारों के द्वारा विकसित किया और पूर्ण बनाया है और अब यह धर्म अन्य राष्ट्रों में मेरा काम करने के लिए बढ़ रहा है। मैं अपनी वाणी का प्रसार करने के लिए इस राष्ट्र को उठा रहा हूँ। यही वह सनातन धर्म है जिसे तुम पहले सचमुच नहीं जानते थे, किन्तु जिसे अब मैंने तुम्हारे सामने प्रकट कर दिया है। तुम्हारे अन्दर जो नास्तिकता थी, जो सन्देह था उनका उत्तर दे दिया गया है, क्योंकि मैंने अन्दर और बाहर स्थूल और सूक्ष्म, सभी प्रमाण दे दिये हैं और उनसे तुम्हें सन्तोष हो गया है। जब तुम बाहर निकलो तो सदा अपने राष्ट्र को यही वाणी सुनाना कि वे सनातन धर्म के लिए उठ रहे हैं, वे अपने लिए नहीं बल्कि संसार के लिए उठ रहे हैं। मैं उन्हें संसार की सेवा के लिए स्वतन्त्रता दे रहा हूँ। अतएव, जब यह कहा जाता है कि भारतवर्ष ऊपर उठेगा तो उसका अर्थ होता है सनातन धर्म ऊपर उठेगा। जब कहा जाता है कि भारतवर्ष महान् होगा तो उसका अर्थ होता है सनातन धर्म महान् होगा। जब कहा जाता है कि भारतवर्ष बढ़ेगा और फैलेगा तो इसका अर्थ होता है सनातन धर्म बढ़ेगा और संसार पर छा जायेगा। धर्म के लिए और धर्म के द्वारा ही भारत का अस्तित्व है। धर्म की महिमा बढ़ाने का अर्थ है देश की महिमा बढ़ाना। मैंने तुम्हें दिखा दिया है कि मैं सब जगह हूँ, सभी मनुष्यों और सभी वस्तुओं में हूँ, मैं इस आन्दोलन में हूँ और केवल उन्हीं के अन्दर कार्य नहीं कर रहा जो देश के लिए मेहनत कर रहे हैं बल्कि उनके अन्दर भी जो उनका विरोध करते और मार्ग में रोड़े अटकाते

हैं। मैं प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर काम कर रहा हूँ और मनुष्य चाहे जो कुछ सोचें या करें, पर वे मेरे हेतु की सहायता करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकते। वे भी मेरा ही काम कर रहे हैं; वे मेरे शत्रु नहीं बल्कि मेरे यन्त्र हैं। तुम यह जाने बिना भी कि तुम किस ओर जा रहे हो, अपनी सारी क्रियाओं के द्वारा आगे बढ़ रहे हो। तुम करना चाहते हो कुछ पर कर बैठते हो कुछ और। तुम एक परिणाम को लक्ष्य बनाते हो और तुम्हारे प्रयास ऐसे हो जाते हैं जो उससे भिन्न या उलटे परिणाम लाते हैं। शक्ति का आविर्भाव हुआ है और उसने लोगों में प्रवेश किया है। मैं एक ज़माने से इस उत्थान की तैयारी करता आ रहा हूँ और अब वह समय आ गया है। अब मैं ही इसे पूर्णता की ओर ले जाऊँगा।"

यही वह वाणी है जो मुझे आपको सुनानी है। आपकी सभा का नाम है "धर्मरक्षिणी सभा"। अस्तु, धर्म का संरक्षण, दुनिया के सामने हिन्दू धर्म का संरक्षण और उत्थान—यही कार्य हमारे सामने है। परन्तु हिन्दू धर्म क्या है? वह धर्म क्या है जिसे हम सनातन धर्म कहते हैं? वह हिन्दू धर्म इसी नाते है कि हिन्दूजाति ने इसको रखा है, क्योंकि समुद्र और हिमालय से घिरे हुए इस प्रायद्वीप के एकान्तवास में यह फला-फूला है, क्योंकि इस पवित्र और प्राचीन भूमि पर इसकी युगों तक रक्षा करने का भार आर्यजाति को सौंपा गया था। परन्तु यह धर्म किसी एक देश की सीमा से घिरा नहीं है, यह संसार के किसी सीमित भाग के साथ विशेष रूप से और सदा के लिए बँधा नहीं है। जिसे हम हिन्दू धर्म कहते हैं वह वास्तव में सनातन धर्म है, क्योंकि यही वह विश्वव्यापी धर्म है जो दूसरे सभी धर्मों का आलिंगन करता है। यदि कोई धर्म विश्वव्यापी न हो तो वह सनातन भी नहीं हो सकता। कोई संकुचित धर्म, साम्प्रदायिक धर्म, अनुदार धर्म कुछ काल और किसी मर्यादित हेतु के लिए ही रह सकता है। यही एक ऐसा धर्म है जो अपने अन्दर विज्ञान, यानी साइंस के आविष्कारों और दर्शनशास्त्र के चिन्तनों का पूर्वाभास देकर और उन्हें अपने अन्दर मिला कर जड़वाद पर विजय प्राप्त कर सकता है। यही एक धर्म है जो मानवजाति के दिल में यह बात बिठा देता है कि भगवान् हमारे निकट हैं, यह उन सभी साधनों को अपने अन्दर ले लेता है जिनके द्वारा मनुष्य भगवान् के पास पहुँच सकते हैं। यही एक ऐसा धर्म है जो प्रत्येक क्षण, सभी धर्मों के माने हुए

इस सत्य पर ज़ोर देता है कि भगवान् हर व्यक्ति और हर चीज़ में हैं तथा हम उन्हीं में चलते-फिरते हैं और उन्हीं में हम निवास करते हैं। यही एक ऐसा धर्म है जो इस सत्य को केवल समझने और उस पर विश्वास करने में ही हमारा सहायक नहीं होता बल्कि अपनी सत्ता के अंग-अंग में इसका अनुभव करने में भी हमारी मदद करता है। यही एक धर्म है जो संसार को दिखा देता है कि संसार है—वासुदेव की लीला। यही एक ऐसा धर्म है जो हमें यह बताता है कि इस लीला में हम अपनी भूमिका अच्छी-से-अच्छी तरह कैसे निभा सकते हैं, जो हमें यह दिखाता है कि इसके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म नियम क्या हैं, इसके महान्-से-महान् विधान कौन-से हैं। यही एक ऐसा धर्म है जो जीवन की छोटी-से-छोटी बात को भी धर्म से अलग नहीं करता, जो यह जानता है कि अमरता क्या है और जिसने मृत्यु की वास्तविकता को हमारे अन्दर से एकदम निकाल दिया है।

यही वह वाणी है जो आपको सुनाने के लिए आज मेरी जिह्वा पर रख दी गयी थी। मैं जो कुछ कहना चाहता था वह तो मुझसे अलग कर दिया गया है और जो मुझे कहने के लिए दिया गया है उससे अधिक मेरे पास कहने के लिए कुछ नहीं है। जो वाणी मेरे अन्दर रख दी गयी थी केवल वही आपको सुना सकता हूँ। अब वह समाप्त हो चुकी है। पहले भी एक बार जब मेरे अन्दर यही शक्ति काम कर रही थी तो मैंने आपसे कहा था कि यह आन्दोलन राजनीतिक आन्दोलन नहीं है और यह कि राष्ट्रीयता राजनीति नहीं, बल्कि एक धर्म है, एक विश्वास है, एक निष्ठा है। उसी बात को आज फिर मैं दोहराता हूँ, किन्तु आज मैं उसे दूसरे ही रूप में उपस्थित कर रहा हूँ। आज मैं यह नहीं कहता कि राष्ट्रीयता एक विश्वास है, एक धर्म है, एक निष्ठा है, बल्कि मैं यह कहता हूँ कि सनातन धर्म ही हमारे लिए राष्ट्रीयता है। यह हिन्दूजाति सनातन धर्म को लेकर ही पैदा हुई है, उसी को लेकर चलती है और उसी को लेकर पनपती है। जब सनातन धर्म की अवनति होती है तब इस जाति की भी अवनति होती है और यदि सनातन धर्म का विनाश सम्भव होता तो सनातन धर्म के साथ-ही-साथ इस जाति का भी विनाश हो जाता। सनातन धर्म ही है राष्ट्रीयता। यही वह सन्देश है जो मुझे आपको सुनाना है।

—श्रीअरविन्द

वैयक्तिक सत्ता से आगे जाकर मायावादी अवर्णनीय सत्ता को देखता है; मैं उसके पीछे-पीछे वहाँ जा पहुँचा और उसके परे अवर्णनीय सत्ता में मैंने अपने कृष्ण को पाया।

श्रीअरविन्द अपनी धर्मपत्नी मृणालिनी देवी के साथ, १९०१

तीन पागलपन और पाँच उपलब्धियाँ

जो लीक-लीक पर नहीं चलता, जो अपनी सुख-सुविधा और सुरक्षा की परवाह न करके नये रास्ते बनाने की कोशिश करता है उसे दुनिया पागल कहती है और जब किसी पागल को सफलता मिल जाये तो उसके आगे सिर झुकाती है।

श्रीअरविन्द ने अपनी धर्मपत्नी श्रीमती मृणालिनी देवी के नाम पत्र में अपने तीन पागलपनों की बात कही है। वे कहते हैं :

"मेरे तीन पागलपन हैं। पहला पागलपन यह है कि मेरा दृढ़ विश्वास है कि भगवान् ने जो गुण, जो प्रतिभा, जो उच्च शिक्षा और विद्या, जो धन दिया है, वह सब भगवान् का है, जो कुछ परिवार के भरण-पोषण में लगता है और जो नितान्त आवश्यक है उसी को अपने लिए ख़र्च करने का अधिकार है, उसके बाद जो कुछ बाक़ी रह जाता है उसे भगवान् को लौटा देना उचित है। यदि मैं सब अपने लिए, सुख के लिए, विलास के लिए ख़र्च करूँ तो मैं चोर कहलाऊँगा। हिन्दू शास्त्र कहते हैं कि जो भगवान् का धन लेकर भगवान् को नहीं लौटाता, वह चोर है। आज तक मैं भगवान् को दो आना दे, चौदह आना, अपने सुख में ख़र्च कर, हिसाब चुकता कर, सांसारिक सुख में मस्त था। जीवन का अर्धांश वृथा ही गया, पशु भी अपना और अपने परिवार का उदर भर कर कृतार्थ होता है।

"मैं इतने दिनों तक पशुवृत्ति और चौर्यवृत्ति करता आ रहा था— यह मैं समझ गया हूँ। यह जान कर मुझे बड़ा अनुताप और अपने ऊपर घृणा हो रही है; अब नहीं, वह पाप जन्म-भर के लिए मैंने छोड़ दिया है। भगवान् को देने का अर्थ क्या है? अर्थ है, धर्म-कार्य में व्यय करना। जो रुपया सरोजिनी या उषा को दिया है उसके लिए मुझे कोई अनुताप नहीं, परोपकार करना धर्म है। आश्रित की रक्षा करना महाधर्म है, किन्तु केवल भाई-बहन को देने से ही हिसाब नहीं चुक जाता। इस दुर्दिन में समस्त देश मेरे द्वार पर आश्रित है, मेरे तीस कोटि भाई-बहन इस देश में हैं, उनमें से बहुतेरे अनाहार से मर रहे हैं, अधिकांश कष्ट और दुःख से जर्जरित होकर किसी प्रकार बचे हुए हैं, उनका हित करना होगा।

"क्या कहती हो, इस विषय में मेरी सहधर्मिणी बनोगी? केवल सामान्य लोगों की तरह खा-पहन कर, ठीक-ठीक जिस चीज़ की ज़रूरत है उसे ही ख़रीद कर और सब भगवान् को दे दूँगा—यही मेरी इच्छा है, अगर तुम सहमत हो, त्याग स्वीकार करो तो मेरी अभिलाषा पूर्ण हो सकती है। तुम कहती हो, मेरी कोई उन्नति नहीं हुई। यह उन्नति का एक पथ दिखा दिया, क्या इस पथ पर चलोगी?

"दूसरा पागलपन, हाल में ही सिर पर सवार हुआ है, वह यह है कि चाहे जैसे भी हो, भगवान् का साक्षात् दर्शन प्राप्त करना ही होगा। आजकल का धर्म है, बात-बात में मुँह से भगवान् का नाम लेना, सबके सामने प्रार्थना करना, लोगों को दिखाना कि मैं कितना धार्मिक हूँ। मैं इसे नहीं चाहता। ईश्वर यदि हैं तो उनके अस्तित्व को अनुभव करने का, उनका साक्षात् दर्शन प्राप्त करने का कोई-न-कोई पथ होगा, वह पथ चाहे कितना भी दुर्गम क्यों न हो, उस पथ से जाने का मैंने दृढ़ संकल्प कर लिया है। हिन्दूधर्म का कहना है कि अपने शरीर के, अपने भीतर ही वह पथ है। जाने के नियम भी दिखा दिये हैं, उन सबका पालन करना मैंने आरम्भ कर दिया है, एक मास के अन्दर अनुभव कर सका हूँ कि हिन्दूधर्म की बात झूठी नहीं है, जिन-जिन चिह्नों की बात कही गयी है उन सबकी उपलब्धि मैं कर रहा हूँ। अब मेरी इच्छा है कि तुम्हें भी उस पथ पर ले चलूँ, एकदम, साथ-साथ नहीं चल सकोगी, क्योंकि तुम्हें उतना ज्ञान नहीं है, किन्तु मेरे पीछे-पीछे आने में कोई बाधा नहीं, उस पथ पर चलने से सिद्धि सबको ही प्राप्त हो सकती है, किन्तु प्रवेश करना अपनी इच्छा पर निर्भर करता है, कोई तुम्हें पकड़ कर नहीं ले जा सकता, यदि तुम्हारा मत हो तो इसके सम्बन्ध में और भी लिखूँगा।

"तीसरा पागलपन यह है कि अन्य लोग स्वदेश को एक जड़-पदार्थ, कुछ मैदान, खेत, वन, पर्वत, नदी-भर समझते हैं, मैं स्वदेश को माँ मानता हूँ, उसकी भक्ति करता हूँ, पूजा करता हूँ। माँ की छाती पर बैठ कर यदि कोई राक्षस रक्तपान करने के लिए उद्यत हो तो भला बेटा क्या करता है? निश्चिन्त होकर भोजन करने, स्त्री-पुत्र के साथ आमोद-प्रमोद करने के लिए बैठ जाता है या माँ का उद्धार करने के लिए दौड़ पड़ता है? मैं जानता हूँ कि इस पतित जाति का उद्धार करने का बल मेरे अन्दर है, शारीरिक बल

नहीं, तलवार या बन्दूक लेकर मैं युद्ध करने नहीं जा रहा हूँ, वरन् ज्ञान का बल है। क्षात्र तेज एकमात्र तेज नहीं है, ब्रह्मतेज भी एक तेज है, वह तेज ज्ञान के ऊपर प्रतिष्ठित होता है। यह भाव नया नहीं है, आजकल का नहीं है, इस भाव को लेकर ही मैंने जन्म ग्रहण किया है, यह भाव मेरी नस-नस में भरा है, भगवान् ने इसी महाव्रत को पूरा करने के लिए मुझे पृथ्वी पर भेजा है। चौदह वर्ष की उम्र में इसका बीज अंकुरित होने लगा था, अठारह वर्ष की उम्र में इसकी प्रतिष्ठा दृढ़ और अचल हो गयी थी। तुमने न-मौसी (चौथी-मौसी) की बात सुन कर यह सोचा था कि न मालूम कहाँ का बदज़ात मेरे सरल भले-मानस स्वामी को कुपथ में खींचे लिये जा रहा है। परन्तु तुम्हारा भला-मानस स्वामी ही उस आदमी को तथा और सैकड़ों आदमियों को उस पथ में, कुपथ हो या सुपथ, खींच ले आया था तथा और भी हज़ारों आदमियों को खींच ले आयेगा। कार्य-सिद्धि मेरे रहते ही होगी, यह मैं नहीं कहता, पर होगी अवश्य।"

और अपने इस पत्र में उन्होंने जिस कार्य-सिद्धि की बात कही है उसके बारे में भारत के स्वाधीनता-दिवस, १५ अगस्त १९४७ को दिया गया श्रीअरविन्द का सन्देश देखिये :

"१५ अगस्त, १९४७ स्वाधीन भारत का जन्मदिन है। यह दिन भारत के लिए पुराने युग की समाप्ति और नये युग का प्रारम्भ सूचित करता है। परन्तु हम एक स्वाधीन राष्ट्र के रूप में अपने जीवन और कार्यों के द्वारा इसे ऐसा महत्त्वपूर्ण दिन भी बना सकते हैं जो सम्पूर्ण जगत् के लिए, सारी मानवजाति के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक भविष्य के लिए नवयुग लाने वाला सिद्ध हो।

"१५ अगस्त मेरा अपना जन्मदिन है और स्वभावतः ही यह मेरे लिए प्रसन्नता की बात है कि इस दिन ने इतना विशाल अर्थ तथा महत्त्व प्राप्त कर लिया है। परन्तु इसके भारतीय स्वाधीनता-दिवस भी हो जाने को मैं कोई आकस्मिक संयोग नहीं मानता, बल्कि यह मानता हूँ कि जिस कर्म को लेकर मैंने अपना जीवन आरम्भ किया था उसको मेरा पथ-प्रदर्शन करने वाली भगवती शक्ति ने इस तरह मंज़ूर कर लिया है और उस पर अपनी

मुहर भी लगा दी है और वह कार्य पूर्ण रूप से सफल होना आरम्भ हो गया है। निःसन्देह, आज के दिन मैं प्रायः उन सभी जागतिक आन्दोलनों को—जिन्हें मैंने अपने जीवन-काल में ही सफल देखने की आशा की थी, यद्यपि उस समय वे असम्भव स्वप्न जैसे ही दिखायी देते थे—सफल होते हुए या सफलता के अपने मार्ग पर जाते हुए देख सकता हूँ। इन सभी आन्दोलनों में स्वाधीन भारत एक बड़ी भूमिका अच्छी तरह अदा कर सकता और एक प्रमुख स्थान ग्रहण कर सकता है।

"इन स्वप्नों में पहला था एक क्रान्तिकारी आन्दोलन जो स्वाधीन और एकीभूत भारत को जन्म दे। भारत आज स्वाधीन हो गया है पर उसने एकता नहीं प्राप्त की है। एक समय प्रायः ऐसा दीखता था मानों अपने स्वाधीन होने की प्रक्रिया में ही वह फिर से पृथक्-पृथक् राज्यों की उस अव्यवस्थापूर्ण स्थिति में जा गिरेगा जो विजय से पहले विद्यमान थी। परन्तु सौभाग्य से अब ऐसी सम्भावना हो गयी है कि यह संकट टल जायेगा और अभी पूर्ण न सही पर एक विशाल तथा शक्तिशाली एकत्व अवश्य स्थापित हो जायेगा। विधान-परिषद् की दूरदर्शितापूर्ण प्रबल नीति ने इस बात को सम्भव बना दिया है कि दलित वर्गों की समस्या बिना फूट-फटाव के हल हो जायेगी। परन्तु हिन्दुओं और मुसलमानों का पुराना साम्प्रदायिक भेद देश के स्थायी राजनीतिक विभाजन के रूप में सुदृढ़ हो गया दीखता है। यह आशा करनी चाहिये कि इस तय किये गये विभाजन को पत्थर की लकीर नहीं मान लिया जायेगा और इसे एक कामचलाऊ अस्थायी उपाय से बढ़ कर और कुछ न माना जायेगा। क्योंकि यदि यह बना रहे तो भारत भयानक रूप में दुर्बल और अपंग तक हो सकता है; गृह-कलह का होना सदा ही सम्भव बना रह सकता है, नये आक्रमण और विदेशी राज्य का हो जाना तक सम्भव हो सकता है, भारत की आन्तरिक उन्नति और समृद्धि रुक सकती है, राष्ट्रों के बीच उसकी स्थिति दुर्बल हो सकती है, उसका भविष्य कुण्ठित, यहाँ तक कि व्यर्थ भी हो सकता है। यह नहीं होना चाहिये; देश का विभाजन अवश्य दूर होना चाहिये। हम आशा करें कि यह कार्य स्वाभाविक रूप से ही हो जायेगा, न केवल शान्ति और मेल-मिलाप की, बल्कि मिल-जुल कर काम करने की भी आवश्यकता को उत्तरोत्तर समझ लेने तथा मिल-जुल कर काम करने के अभ्यास और उसके लिए साधनों

को उत्पन्न कर लेने से सम्पन्न हो जायेगा। इस प्रकार अन्त में एकता चाहे किसी भी रूप में आ सकती है—उसके ठीक-ठीक रूप का व्यावहारिक महत्त्व भले ही हो, पर कोई प्रधान महत्त्व नहीं है। परन्तु चाहे किसी भी उपाय से हो, चाहे किसी भी प्रकार से हो, विभाजन अवश्य हटना चाहिये, एकता अवश्य स्थापित होनी चाहिये और स्थापित होगी ही, क्योंकि भारत के भविष्य की महानता के लिए यह आवश्यक है।

"दूसरा स्वप्न था एशिया की जातियों का पुनरुत्थान तथा स्वातन्त्र्य। और मानव सभ्यता की उन्नति के कार्य में एशिया का जो महान् स्थान पहले था उसी स्थान पर उसका लौट आना। एशिया जग गया है; उसके बड़े-बड़े भाग स्वतन्त्र हो गये हैं या इस समय बन्धन-मुक्त हो रहे हैं; इसके अन्य भाग जो अभी परतन्त्र या अंशतः परतन्त्र हैं वे भी, चाहे कैसे भी घोर संघर्ष में से गुज़रते हुए, स्वतन्त्रता की ओर बढ़ रहे हैं। केवल थोड़ा ही करना बाक़ी है और वह आज न सही कल पूरा हो जायेगा। उसमें भारत को अपनी भूमिका अदा करनी है और उसे उसने एक ऐसी सामर्थ्य और योग्यता के साथ करना शुरू कर दिया है जो अभी से उसकी सम्भावनाओं की मात्रा को तथा उस स्थान को सूचित करती है जिसे वह राष्ट्रों की सभा में ग्रहण कर सकता है।

"तीसरा स्वप्न था एक विश्व-संघ जो समस्त मानवजाति के लिए एक सुन्दरतर, उज्ज्वलतर और महत्तर जीवन का बाहरी आधार निर्मित करे। मानव संसार का वह एकीकरण प्रगति के पथ पर है; एक अधूरा आरम्भ संगठित किया गया है पर वह बड़ी भारी कठिनाइयों के विरुद्ध संघर्ष कर रहा है। किन्तु उसमें एक वेग है और वह अनिवार्य रूप से बढ़ता चला जायेगा और विजयी होगा। इस कार्य में भी भारतवर्ष ने प्रमुख भाग लेना प्रारम्भ कर दिया है और यदि वह उस अधिक विशाल राजनीतिज्ञता को विकसित कर सके जो वर्तमान घटनाओं और तात्कालिक सम्भावनाओं से ही सीमित नहीं होती, बल्कि भविष्य को देख लेती और उसे निकट लाती है, तो भारत की उपस्थिति मन्द एवं भीरुतापूर्ण विकास और द्रुत एवं साहसपूर्ण विकास में जो महान् भेद है उसे प्रदर्शित कर सकती है। जो कार्य किया जा रहा है उसमें महान् विपत्ति आ सकती है और वह उसमें बाधा डाल सकती है या उसे नष्ट कर सकती है, फिर भी अन्तिम परिणाम

निश्चित है। क्योंकि एकीकरण प्रकृति की आवश्यकता है, अनिवार्य गति है। इसकी आवश्यकता राष्ट्रों के लिए भी स्पष्ट है; क्योंकि इसके बिना छोटे-छोटे राष्ट्रों की स्वाधीनता किसी भी क्षण ख़तरे में पड़ सकती है और बड़े तथा शक्तिशाली राष्ट्रों का भी जीवन असुरक्षित हो सकता है। इसलिए इस एकीकरण में ही सबका हित है और केवल मानवीय बुद्धिहीनता तथा मूर्खतापूर्ण स्वार्थपरता ही इसे रोक सकती है; परन्तु ये भी प्रकृति की आवश्यकता और भगवान् की इच्छा के विरुद्ध हमेशा नहीं ठहर सकतीं। परन्तु एक बाहरी आधार ही पर्याप्त नहीं है, अन्तर्राष्ट्रीय भाव और दृष्टिकोण भी अवश्य विकसित होने चाहियें, अन्तर्राष्ट्रीय पद्धति तथा संस्थाएँ भी अवश्य प्रादुर्भूत होनी चाहियें, शायद इस प्रकार की प्रगतियाँ भी सम्भव हो जायें, जैसे कि दो या अनेक देशों का एकसंग नागरिक होना, संस्कृतियों का आपस में ऐच्छिक दान-प्रतिदान या उनका स्वेच्छापूर्वक घुलना-मिलना। राष्ट्रीयता तब अपने-आपको चरितार्थ कर चुकी होगी और अपनी युद्धप्रियता को छोड़ चुकी होगी, और तब वह ऐसी चीज़ों को आत्म-संरक्षण तथा अपनी दृष्टि की अखण्डता से असंगत नहीं अनुभव करेगी। एकत्व की एक नयी भावना मनुष्यजाति पर आधिपत्य जमा लेगी।

"चौथा स्वप्न, संसार को भारत का आध्यात्मिक दान, पहले से ही प्रारम्भ हो चुका है। भारत की आध्यात्मिकता यूरोप और अमरीका में नित्य बढ़ती हुई मात्रा में प्रवेश कर रही है। यह आन्दोलन बढ़ेगा; वर्तमान काल की विपदाओं के बीच अधिकाधिक लोगों की आँखें आशा के साथ भारत की ओर मुड़ रही हैं और न केवल उसकी शिक्षाओं का अपितु उसकी आन्तरात्मिक और आध्यात्मिक साधना का भी उत्तरोत्तर आश्रय लिया जा रहा है।

"अन्तिम स्वप्न था क्रमविकास में अगला क़दम जो मनुष्य को एक उच्चतर और विशालतर चेतना में उठा ले जायेगा और उन समस्याओं का हल करना प्रारम्भ कर देगा जिन समस्याओं ने मनुष्य को तभी से हैरान और परेशान कर रखा है जब से उसने वैयक्तिक पूर्णता और पूर्ण समाज के विषय में सोचना-विचारना शुरू किया था। यह अभी तक एक व्यक्तिगत आशा, विचार और आदर्शमात्र है जिसने भारत और पश्चिम में, दोनों जगह दूरदर्शी विचारकों को वश में करना शुरू कर दिया है। इस मार्ग की

कठिनाइयाँ प्रयास के किसी भी अन्य क्षेत्र की अपेक्षा बहुत अधिक प्रबल हैं, परन्तु ये जीती जाने के लिए ही बनी थीं और यदि दिव्य परम इच्छा-शक्ति का अस्तित्व है तो वे दूर होंगी ही। यहाँ भी, यदि इस विकास को घटित होना है तो चूँकि यह आत्मा और आन्तर चेतना की अभिवृद्धि द्वारा ही होगा, इसका प्रारम्भ भारतवर्ष ही कर सकता है और यद्यपि इसका क्षेत्र सार्वभौम होगा, तथापि केन्द्रीय आन्दोलन भारत ही करेगा।

"ये हैं वे भाव और भावनाएँ जिनको मैं भारतीय स्वाधीनता की इस तिथि के साथ सम्बद्ध करता हूँ। क्या ये आशाएँ ठीक सिद्ध होंगी, या कहाँ तक सिद्ध होंगी, यह बात नये और स्वाधीन भारत पर निर्भर करती है।"
'लाल कमल' पुस्तक से, पृ. १०१-०६ —श्रीअरविन्द

सभी सम्भव कठिनाइयों के होते हुए भारत ज़रूर उठेगा इसका आश्वासन श्रीमाँ और श्रीअरविन्द, दोनों ने बार-बार दिया है। उन्होंने भारत के विभाजन को कभी नहीं स्वीकार किया। स्वाधीनता-प्राप्ति दिवस पर माताजी ने एक प्रार्थना पढ़ी थी; यदि भारतवासी इस प्रार्थना को हृदय से दोहरा सकें, तो भारत माँ का उज्जवल भविष्य ज़्यादा जल्दी आ सकेगा।

"हे हमारी माँ! हे भारत की आत्म-शक्ति! हे जननि! तूने कभी, अत्यन्त अन्धकारपूर्ण अवसाद के दिनों में भी, यहाँ तक कि जब तेरे बच्चों ने तेरी वाणी अनसुनी कर दी, अन्य प्रभुओं की सेवा की और तुझे अस्वीकार कर दिया, तब भी तूने उनका साथ नहीं छोड़ा। हे माँ! आज, इस महान् घड़ी में, जब कि वे जग पड़े हैं और तेरी स्वतन्त्रता के इस उषःकाल में तेरे मुखमण्डल पर ज्योति पड़ रही है, हम तुझे नमस्कार कर रहे हैं। हमें पथ दिखा जिसमें स्वतन्त्रता का जो विशाल क्षितिज हमारे सामने उन्मुक्त हुआ है वह तेरी सच्ची महानता का तथा विश्व के राष्ट्र-समाज के अन्दर तेरे सच्चे जीवन का भी क्षितिज बने। हमें वह पथ दिखा जिसमें हम सर्वदा महान् आदर्शों के पक्ष में ही खड़े हों और अध्यात्म-मार्ग के नेता के रूप में तथा सभी जातियों के मित्र और सहायक के रूप में तेरा सच्चा स्वरूप मनुष्यजाति को दिखा सकें।"

—श्रीमाँ

मेरे गुरु, श्रीअरविन्द

आश्रम के एक साधक ऋषभचन्द अपनी पुस्तक में लिखते हैं—श्रीअरविन्द देर रात १ बजे तक, कुर्सी पर बैठे, लालटेन की रोशनी में, दीन-दुनिया से बेख़बर, पढ़ते ही रहते थे। न उनके कानों में मच्छरों की भिनभिनाहट गूँजती थी, न शरीर पर उनका काटना महसूस होता था। मैंने उन्हें घण्टों, बिना हिले-डुले, एक ही अवस्था में, ध्यानमग्न योगी की तरह किताब पर आँखें गड़ाये पढ़ते देखा है। ऐसी देवसदृश, लौलीन मूर्ति को शतशः प्रणाम। मुझे तो उनकी वह निश्चल मुद्रा को देख लगता था कि घर आग पकड़ ले फिर भी उनका ध्यान कभी भंग न होगा! हर रात वे लालटेन में तेल डाल कर उसे जला दिया करते और फिर अपनी किताबों के समुद्र में आकण्ठ डूब जाते—यूरोप की कितनी ही विभिन्न भाषाओं की, विभिन्न विषयों की पुस्तकों का ढेर उनके सामने लगा रहता—फ्रेंच, जर्मन, रूसी, अंग्रेज़ी, लैटिन, ग्रीक इत्यादि—न जाने कौन-कौन सी भाषाओं की कितनी ही किताबें वहाँ हुआ करतीं...!!! मैं तो निरा अपढ़, मूढ़ उन्हें भला क्या समझता! पर मैंने देखा कि अंग्रेज़ी कवि जेफ़री चौसर से लेकर चार्ल्स स्वाइनबर्न तक सभी अंग्रेज़ी कवियों की कृतियाँ वहाँ मौजूद थीं। असंख्य अंग्रेज़ी उपन्यास दीवारों पर बने तख़्तों पर सजे हुए थे, बहुत सारे कमरों के कोनों में भी गड्डी बने रहते थे; इसके अलावा उनके स्टील के ट्रंक्स भी किताबों से अटाअट ठुँसे रहते—इनमें कुछ किताबें थीं—होमर की 'इलिअड', दाँते की 'डिवाइन कॉमेडी', हमारे यहाँ की रामायण, महाभारत, कालिदास इत्यादि। साथ ही रूसी साहित्य के भी मेरे गुरु, श्रीअरविन्द महान् प्रेमी थे...।

नास्ति विद्यासमं चक्षुः नास्ति सत्यसमं तपः।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम्।।

विद्या-समान अन्य नेत्र नहीं, सत्य-समान तप नहीं। आसक्ति-समान दुःख नहीं और त्याग-समान सुख नहीं।

विवेकानन्द के वचन

गीता का केन्द्रीय भाव यह है : निरन्तर कर्म करते रहो, परन्तु उसमें आसक्त मत होओ। संस्कार प्रायः मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्ति होती है। यदि मन को तालाब मान लिया जाये तो उसमें उठने वाली प्रत्येक लहर, प्रत्येक तरंग जब शान्त हो जाती है तो, वास्तव में वह बिलकुल शान्त, नष्ट नहीं हो जाती, बल्कि चित्त में एक प्रकार का चिह्न छोड़ जाती है तथा ऐसी सम्भावना का निर्माण कर जाती है जिससे वह फिर उठ सके। इस चिह्न तथा इस लहर के फिर से उठने की सम्भावना को मिला कर हम 'संस्कार' कह सकते हैं। हमारा प्रत्येक कार्य, प्रत्येक अंग-सञ्चालन, हमारा प्रत्येक विचार हमारे चित्त पर इसी प्रकार का एक संस्कार छोड़ जाता है, और यद्यपि ये संस्कार ऊपरी दृष्टि से स्पष्ट न हों, फिर भी ये अवचेतन रूप से अन्दर ही अन्दर कार्य करने में पर्याप्त समर्थ होते हैं। हम प्रतिमुहूर्त जो कुछ होते हैं, वह इन संस्कारों के समुदाय द्वारा निर्धारित होता है। मैं इस मुहूर्त जो कुछ हूँ, वह मेरे अतीत जीवन के समस्त संस्कारों का प्रभाव है। यथार्थतः इसे ही 'चरित्र' कहते हैं, और प्रत्येक मनुष्य का चरित्र इन संस्कारों की समष्टि द्वारा ही नियमित होता है। यदि शुभ संस्कारों का प्राबल्य रहे तो मनुष्य का चरित्र अच्छा होता है, और यदि अशुभ संस्कारों का तो बुरा। यदि एक मनुष्य निरन्तर बुरे शब्द सुनता रहे, बुरे विचार सोचता रहे, बुरे कर्म करता रहे, तो उसका मन भी बुरे संस्कारों से भर जायेगा और बिना उसके जाने ही वे संस्कार उसके समस्त विचारों तथा कार्यों पर अपना प्रभाव डालते रहेंगे। वास्तव में ये बुरे संस्कार निरन्तर अपना कार्य करते रहते हैं। अतएव, बुरे संस्कार सम्पन्न होने के कारण उस व्यक्ति के कार्य भी बुरे होंगे—वह एक बुरा आदमी बन जायेगा—वह इससे बच नहीं सकता। इन संस्कारों की समष्टि उसमें दुष्कर्म करने की प्रबल प्रवृत्ति उत्पन्न कर देगी। वह इन संस्कारों के हाथ एक यन्त्र-सा होकर रह जायेगा; वे उसे बलपूर्वक दुष्कर्म करने के लिए बाध्य करेंगे। इसी प्रकार यदि एक मनुष्य अच्छे विचार रखे और सत्कार्य करे, तो उसके इन संस्कारों का प्रभाव भी अच्छा ही होगा तथा उसकी इच्छा न होते हुए भी वे उसे सत्कार्य करने के लिए प्रवृत्त करेंगे।

चिन्तन

जिसे तुम खोज रहे हो
उसे पाओगे अवश्य एक दिन

तुम्हारी चाल तेज़ है या मन्द
खोज में चलते रहो निरन्तर
थके-हारे होने पर भी
कमर दोहरी हो जाने पर भी
चलते रहना है,
उसकी खोज में

उस व्यक्ति की तरह मत बनो
जो रेत के ढेर में सिर छुपाये बैठा है
सूर्य की लालिमा
और
चाँद की धवल चाँदनी
तभी देख पाओगे
जब सिर उठा कर देखोगे
उसकी ओर

इस संसार के स्रष्टा
को तो देख नहीं सकते
वह निराकार है
हाँ, उसकी सृष्टि को तो
देख पाते हैं हम
यह भी तभी
यदि स्रष्टा के निकट
तक पहुँचने का प्रयत्न करें

—स्व. श्री विश्वनाथजी

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी

अगस्त

१. अभीप्सा को विचार के रूप में होने की कोई आवश्यकता नहीं—यह अन्दर की एक भावना हो सकती है जो उस समय भी बनी रहती है जब मन कर्म में निरत रहता है।

२. मनुष्य को जो कुछ मिलता है उससे सन्तुष्ट रहना चाहिये और फिर भी शान्त रूप से, बिना किसी संघर्ष के, और अधिक पाने के लिए अभीप्सा करनी चाहिये। कोई कामना नहीं, कोई संघर्ष नहीं। बस, होनी चाहिये अभीप्सा, श्रद्धा, उद्घाटन—और भागवत कृपा।

३. प्रार्थनाएँ विश्वास से भरी होनी चाहियें और वहाँ शोक या विलाप हर्गिज़ नहीं होना चाहिये।

४. श्रीमाँ की ओर अपने-आपको खोले रखो, सर्वदा उनका स्मरण करो और उनकी शक्ति को अपने अन्दर कार्य करने दो, अन्य सभी प्रभावों का त्याग करो—यही योग का नियम है।

५. शुरू-शुरू में कार्य के बीच श्रीमाँ की उपस्थिति की स्मृति बनाये रखना आसान नहीं होता; लेकिन कोई यदि कार्य के समाप्त होने के तुरन्त बाद उपस्थिति के बोध को पुनः जगा ले तो यह बिलकुल ठीक है। समय आने पर कर्म के बीच भी उपस्थिति का बोध होना स्वाभाविक बन जायेगा।

६. अचल-अटल, अक्षुब्ध बने रहो, निरुत्साहित हुए बिना अपना कार्य करो, दिव्य शक्ति को अपने अन्दर कार्य करने के लिए पुकारो। तुम्हारे लिए यह परीक्षा का क्षेत्र है—बाह्य की अपेक्षा आन्तरिक परिणाम कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

७. यह एकदम सही है कि भौतिक वस्तुओं के अन्दर एक चेतना होती है जो प्यार-दुलार को अनुभव करती और प्रत्युत्तर देती है तथा असावधानीपूर्ण स्पर्श और कठोर व्यवहार के प्रति संवेदनशील होती है। इसे जानना या अनुभव करना और उनके विषय में सावधान होना चेतना की महान् प्रगति है।

८. भौतिक वस्तुओं का बुरी तरह इस्तेमाल करना और असावधानीवश तोड़-फोड़ या नष्ट करना या उनके साथ दुर्व्यवहार करना यौगिक चेतना को अस्वीकार करना है तथा जड़-भौतिक स्तर पर भागवत सत्य को उतार लाने में एक महान् बाधा है।

९. तुम्हें भला उन्हीं चीज़ों के लिए क्यों प्रयास करना चाहिये जिनके लिए दूसरे करते हैं? जिस कार्य को करने के लिए मनुष्य अन्तःप्रेरणा अनुभव करता है वही उसके लिए सर्वोत्तम है।

१०. अगर तुम हमेशा "निम्नतर शक्तियों", "आक्रमणों" और "उनके द्वारा अधिकृत होने की बातों" आदि को ही सोचते रहोगे तो शान्ति और अचञ्चलता को कैसे प्राप्त करोगे? अगर तुम स्वाभाविक और शान्त भाव से वस्तुओं की ओर देख सको, केवल तभी तुम अचञ्चलता और शान्ति प्राप्त कर सकते हो।

११. असफलता का कारण क्षमता का अभाव नहीं बल्कि दृढ़ता का अभाव है।

१२. बिना हिचकिचाये मन और हृदय दोनों में दूसरे का मंगल चाहना ही वह सर्वोत्तम सहायता है जो मनुष्य दूसरे को दे सकता है।

१३. निस्सन्देह, तुम (महान् हुए बिना) योग कर सकते हो। महान् होने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत, विनम्रता सबसे पहली आवश्यकता है, क्योंकि जिस व्यक्ति में अहंकार और गर्व होता है वह परमोच्च सत्य को नहीं प्राप्त कर सकता।

१४. तुम्हें बस शान्त-स्थिर और अपने पथ का अनुसरण करने में दृढ़ बने रहना है और तुम अन्त तक पहुँच जाओगे। यदि तुम ऐसा करो तो परिस्थितियाँ अन्त में तुम्हारी इच्छा के अनुसार रूप ग्रहण करने को बाध्य होंगी, क्योंकि तब वह इच्छा तुम्हारे अन्दर भगवान् की ही इच्छा होगी।

१५. शान्ति तथा धैर्य एक साथ रहते हैं। सभी प्रकार के दबावों के अधीन धैर्य बनाये रख कर तुम शान्ति का आधार स्थापित कर सकते हो।

१६. अचञ्चल बने रहो, अपने-आपको खोले रखो और भागवत शक्ति का आवाहन करो ताकि वह स्थिरता और शान्ति को स्थापित करे, चेतना को प्रसारित करे और अभी उसमें जितनी ज्योति और शक्ति ग्रहण

करने तथा धारण करने की क्षमता हो उतनी उसके अन्दर ले आये।

१७. बस एक ही अनिवार्य शर्त है—**सच्चाई**।

१८. साधना-पथ में तैयारी से मेरा मतलब क्षमता नहीं बल्कि अभीप्सा है। यदि सभी कठिनाइयों का सामना करने तथा अन्त तक जाने का संकल्प अपने अन्दर हो तो पथ को ग्रहण किया जा सकता है, फिर कोई बात नहीं—चाहे जितना भी लम्बा समय क्यों न लगे।

१९. साधारण जीवन से नितान्त अशान्त असन्तोष ही इस योग के लिए पर्याप्त तैयारी नहीं है। आध्यात्मिक जीवन में सफलता पाने के लिए एक सुनिश्चित आन्तरिक पुकार, प्रबल संकल्प तथा महान् दृढ़ता का होना आवश्यक है।

२०. ध्यान वही सबसे उत्तम होता है जब वह अपने-आप आता है। परन्तु कर्म को यदि ध्यान का स्थान लेना हो तो उसमें पूर्ण रूप से एकाग्र हो जाना चाहिये।

२१. श्रद्धा, सच्चाई, अभीप्सा, भक्ति इत्यादि गुण ही मनुष्यों में पूर्णता का निर्माण करते हैं।

२२. तामसिक शक्तियाँ ही कठिनाई पर बल देतीं और उन्हें उत्पन्न करती हैं और भौतिक चेतना उन्हें स्वीकार करती है। वास्तव में अभीप्सा करना कभी कठिन नहीं होता। किसी चीज़ का त्याग करना तुरन्त फलदायी न भी हो सके, लेकिन परित्याग और अस्वीकृति का संकल्प बनाये रखना हमेशा सम्भव होता है।

२३. परम सत्य के पूर्ण अवतरण तथा जगत् में मिथ्यात्व के ऊपर विजय पाने के लिए व्यक्ति के अन्दर अभीप्सा होनी चाहिये।

२४. शान्ति, पवित्रता, निम्न प्रकृति से मुक्ति, ज्योति, शक्ति, आनन्द, दिव्य प्रेम, भागवत सेवा इत्यादि के लिए अभीप्सा करने का क्या "कारण" है? ये चीज़ें अपने-आपमें बहुत अच्छी हैं और मानव प्रयास का उच्चतम सम्भव लक्ष्य हैं।

२५. जो लोग प्रयास नहीं करते—प्रयास का अभाव अपने-आपमें एक कठिनाई है—वे प्रगति नहीं करते।

२६. उद्घाटन का सर्वोत्तम पथ है समर्पण; परन्तु जब तक समर्पण का भाव नहीं होता तब तक अभीप्सा और अचञ्चलता इसे एक हद

तक कर सकते हैं। समर्पण का अर्थ है—अपने अन्दर की प्रत्येक चीज़ को भगवान् के हाथों में अर्पित कर देना, जो कुछ तुम हो और तुम्हारे पास है, सब कुछ उत्सर्ग कर देना, अपने ही विचारों, कामनाओं, अभ्यासों आदि पर आग्रह न करना, बल्कि दिव्य सत्य को ऐसा अवसर देना कि वह उनके स्थान पर ज्ञान, संकल्प और कर्म को सर्वत्र स्थापित कर दे।

२७. अचल-अटल बने रहो तथा एक ही दिशा में—केवल श्रीमाँ की ओर तन-मन से मुड़े रहो।

२८. अपने अन्दर अचञ्चल बने रहना, बाधा-विपत्ति या उत्थान-पतन से विचलित या निरुत्साहित न होकर पथ पर चलने के अपने संकल्प में दृढ़ बने रहना—यही वह पहली बात है जिसे इस योगमार्ग में सीखना पड़ता है।

२९. यदि बहुत देर तक काम करके या अशान्ति के साथ कार्य करके तुम अपने-आपको बहुत अधिक थका दोगे तो इससे तुम्हारा स्नायुमण्डल, प्राणिक-भौतिक भाग अस्तव्यस्त या दुर्बल हो जायेगा, अवाञ्छित शक्तियों की क्रिया की ओर तुम खुल जाओगे। कार्य करो, पर शान्ति के साथ करो—यही वह सच्चा पथ है जिसमें सतत प्रगति होती रहती है।

३०. जब मनुष्य के अन्दर निरन्तर विकास होता रहता है केवल तभी वह निरन्तर नवीनता भी पाता रह सकता है और जीवन में स्थायी रस पा सकता है। इससे भिन्न कोई दूसरा सन्तोषजनक मार्ग नहीं है।

३१. जिस मनुष्य में जीवन और उसकी कठिनाइयों का मुक़ाबिला धैर्य और दृढ़ता के साथ करने का साहस नहीं है वह कभी साधना की और भी अधिक बड़ी आन्तरिक कठिनाइयों को पार करने में समर्थ नहीं होगा। इस योग का एकदम पहला पाठ यह है कि अचञ्चल मन से, अटूट साहस तथा भगवती शक्ति पर सम्पूर्ण निर्भरता के साथ जीवन तथा उसकी परीक्षाओं का सामना किया जाये।

—श्रीअरविन्द के पत्रों से उद्धृत

नूतन उषा का सन्देश

(एक प्रतीकात्मक कहानी)

होली का चाँद अस्ताचल के पीछे छिपने से पहले मुड़-मुड़ कर हमारी धरती की ओर ललचायी-सी नज़रें डाल रहा था। उसे याद आ रही थीं वे घटनाएँ। हाँ, उसके लिए तो अभी कल-परसों की ही बात है कि धरती पर हिरण्यकशिपु का राज था। चारों ओर मुनादी कर दी गयी थी कि सारी धरती पर कहीं कोई भगवान् का नाम न ले, कि अब से हिरण्यकशिपु ही समस्त जगत् का स्वामी माना जाये और उसकी अवहेलना करने वाले को दुनिया-भर में कहीं सिर छिपाने की जगह न मिलेगी।

डुगडुगिया की आवाज़ भगवान् के कानों में भी पड़ी। कैसे न पड़ती —'चींटी के पग नेवर बाजे, वह भी साहब सुनता है।' उनके अधरों पर मुस्कान की हलकी-सी रेखा खिंच गयी। उन्होंने धरती पर नज़र डाली, कड़ी चट्टानों को तोड़ कर अमृत सलिला नदियाँ बह रही थीं। जो समझ सकते थे वे भगवान् के मधुर स्मित का अर्थ समझ गये और उनके हृदय की चिन्ता दूर हो गयी।

सारी धरती से भगवान् के नाम को देश-निकाला मिल चुका था और अब वह ऋषि-मुनियों के अन्तर में विश्राम कर रहा था। जिसने एक पग से समस्त धरती को और दूसरे पग से समस्त आकाश को नाप लिया था वही भगवान् छोटे-से मानव-हृदय में कैसे समा गया वह खोज का विषय था। हिरण्यकशिपु ने और उसके बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने धरती छान मारी, आकाश छान मारा पर भगवान् का कहीं अवशेष भी न मिला। उन्हें अपनी सफलता का विश्वास हो गया और उन्होंने सन्तोष की साँस ली। अब उनके आगे सिर उठाने का साहस कोई न करेगा।

लेकिन कठोर चट्टानें तोड़ कर पुण्य सलिला बाहर निकल रही थी। हिरण्यकशिपु के अपने सदन में, उसकी अपनी प्रिय महिषी के गर्भ में नारायण के गढ़ की नींव रखी जा रही थी। हिरण्यकशिपु नारायण की हवा तक से बच रहा था और उधर नारद ने उसके अपने भ्रूण में नारायण की भक्ति का बीज बो दिया। दीये तले हमेशा अँधेरा होता है। राजा ने अपनी आँखों के नीचे पनपते हुए अंकुर को न देखा और जब देखा तो बहुत देर

हो चुकी थी। अंकुरों से बिरुवा बना और बिरुवे ने अश्वत्थ प्रह्लाद का रूप ले लिया था।

राजा ने अश्वत्थ को जड़ से उखाड़ फेंकने की ठानी। लेकिन उसकी जड़ें गहरी, गहरी और अधिक गहरी होती गयीं। सब प्रकार के प्रयास असफल होते चले गये। हर बार उसे मुँह की खानी पड़ी। आख़िर उसकी अपनी बहन होलिका, जिसके ऊपर आग का कभी कोई असर न हो सकता था, प्रह्लाद को लेकर चिता में बैठ गयी। इस बार हिरण्यकशिपु की विजय अवश्यम्भावी थी। लेकिन हुआ क्या? प्रह्लाद का बाल भी बाँका न हुआ और होलिका के फूल भी न मिले। चन्द्रमा को आज यह घटना बार-बार याद आ रही थी। वह सोच रहा था, क्या आज के मानव ने उस कार्य में विजय प्राप्त कर ली जिसमें हिरण्यकशिपु असफल रहा।

चन्द्रमा सोच रहा था, शायद आज का मानव ज़्यादा चतुर है। उसने भगवान् के विरुद्ध कोई डुगडुगिया नहीं पिटवायी, परचे नहीं बाँटे, कोई मुनादी नहीं की, बस स्वार्थ और अहं का ऐसा बटन दबाया कि मनुष्य अपने ही चारों ओर नाचने में लगा है, साँप की तरह अपनी ही पूँछ को चबाये जाता है और नारायण के बारे में सोचने का भी समय नहीं मिलता। आदमी को किसी चीज़ के लिए मना किया जाये तो वह उसे पाने के लिए व्याकुल हो उठता है, लेकिन यहाँ तो मना करने का कोई सवाल ही नहीं। उसे अपने अहं से बाहर निकलने की फ़ुरसत ही कहाँ थी जो किसी और की बात सोचता। जहाँ प्राचीन हिरण्यकशिपु अपनी बुद्धि पर आश्रित था वहाँ आधुनिक हिरण्यकशिपु को 'कम्प्यूटर' की सहायता प्राप्त थी। इसने साँप भी मारा और इसकी लाठी भी न टूटी।

चन्द्रमा ने अपनी स्मृति-मञ्जूषा को खोला। नये-पुराने बहुत प्रकार के हिरण्यकशिपु पैदा हो चुके थे धरती पर। एक-से-एक पराक्रमी, एक-से-एक तेजस्वी। उसने देखा, काजल के पहाड़ बने, तमस् की परतों पर परतें लगती गयीं जिन्होंने सुमेरु से भी ऊपर उठ कर सूर्य के रथ को रोक दिया। लेकिन परिणाम? कहीं से पुण्य सलिला की एक छोटी-सी, नन्हीं-सी बूँद आयी और सारे पहाड़ धुल गये। समस्त कालिमा कालिन्दी की एक लहर में ग़ायब हो गयी।

चाँद मुस्कुराया। यह आश्वासन की मुस्कान थी। उसे विश्वास हो गया

कि आसुरी कूड़े-कबाड़ के ढेर के लिए पावक की एक चिनगारी काफ़ी होगी। वह चिनगारी आयेगी ज़रूर, इसमें कोई शक नहीं। इस बार भगवान् को पशु तक उतर कर नृसिंह का रूप धारण करने की ज़रूरत न होगी। होली का चाँद अस्ताचल के पीछे जाने से पहले नये युग की एक झाँकी पा लेना चाहता था। लेकिन अब समय ही कहाँ था? मार्तण्ड के चर आने शुरू हो गये थे।

अचानक चन्द्रमा की नज़र पड़ी एक छोटी-सी वाटिका पर। यहाँ के सब झाड़-झंखाड़ की, सूखी टहनियों की होली की जा चुकी थी। ये टहनियाँ गिलहरियों की क्रीड़ास्थली थीं। छोटी-बड़ी गिलहरियाँ इन सूखी टहनियों पर दौड़ा करतीं, खेला करतीं और धमा-चौकड़ी मचाया करती थीं। इस डाली से उस डाली पर, इस पौधे से उस पौधे पर जीवन दौड़ा करता था। आज यहाँ व्यवस्थित सौन्दर्य तो दिखायी दे रहा था पर जीवन की चपलता का अभाव था। गिलहरियाँ आती तो थीं पर निराश होकर लौट जाती थीं।

चाँद ने देखा पच्चीस फ़ुट ऊँचे छज्जे पर एक गिलहरी बैठी है। उसकी आँखें कम-से-कम पन्द्रह फ़ुट दूर चमेली की लचकीली सुकोमल टहनी पर लगी थीं। और भी कई गिलहरियाँ आयीं, इधर-उधर देखा और चली गयीं। उनके लिए इस दूरी को पार करना ऐसा ही था जैसे मनुष्य के लिए कूद कर गंगा पार करना। लेकिन हमारी मित्र गिलहरी ध्यानावस्थित बैठी रही, बैठी रही। उसका छोटा-सा हृदय भय और साहस के बीच चक्कर लगा रहा था। कभी उत्साह उमड़ता तो कभी ऊँचाई और दूरी का भय उसे ठण्डा कर देता।

निस्तब्ध बैठी हुई गिलहरी में अचानक गति आयी। उसने आँखें खोलीं, अपने दाएँ-बाएँ देखा और अपना कान खुजाने लगी मानों असीम आकाश को पार करने की यही सबसे महत्त्वपूर्ण और अन्तिम तैयारी थी। निमिषमात्र के लिए उसने अपनी आँखें बन्द कर लीं मानों ईश-वन्दना कर रही हो और दूसरे ही क्षण वह चमेली की टहनी पर बैठी इधर-उधर ताक रही थी मानों प्रशंसकों के अभिवादन के उत्तर में आभार प्रदर्शन कर रही हो। छज्जे पर से उड़ कर चमेली पर उतरने की क्रिया इतनी तेज़ी से और इतनी शान्ति के साथ, इतनी सफ़ाई से हुई कि चाँद की आँखें भी भली-भाँति देख न पायीं। वे गिलहरी के पीछे या गिलहरी के अन्दर छिपी उस

शक्ति को देखने में लगी थीं जिसने असम्भव को सम्भव बना दिया, जिसने ज़रा-सी गिलहरी से वह काम करवा दिया जिसे उस वंश में आज तक कोई न कर पाया था। क्या वही शक्ति मानव-यन्त्रों के द्वारा सब प्रकार के हिरण्यकशिपुओं का अन्त करके नूतन उषा नहीं लायेगी?

गिल्लो रानी ने मानों स्वीकृति में सिर हिलाया और पेड़ों में इधर-उधर ग़ायब हो गयी।

—स्व. रवीन्द्रजी

"छद्मवेश में छिपा आशीर्वाद"

(कनिष्ठा जी का, अपने जन्मदिन का सालाना उपहार जस पहुँचा तस छपा... सं.)

जनम से मरण तक का रास्ता है ज़िन्दगी। लेकिन वह कोई सरल और सीधा रास्ता तो है नहीं। ऊँच-नीच, उतार-चढ़ाव, ख़ुशी और ग़म, अप्रत्याशित तोड़-मरोड़, कभी सफलता, तो कभी विफलता... यह सभी है हिस्सा ज़िन्दगी का। हर आत्मा, अपने कुछ अनुभवों के कारण, इन सबसे जूझती हुई, आगे बढ़ती है। लेकिन क्या मनुष्य की समझ में यह बात आती है? जब ख़ुशियाँ दस्तक देती हैं, तो हम खिल उठते हैं, कहते हैं, "भगवान् की कृपा कितनी अपरम्पार है! उसी ने हमारी रक्षा की है, हम कितने धन्य हैं!" लेकिन कुछ बुरा होता है तो हम दुःखी हो जाते हैं, कहते हैं, "पता नहीं क्यों, भगवान् ने हमारी इस बार रक्षा नहीं की, हम अपनी भक्ति में शायद कहीं चूक गये, जिसका नतीजा आज हम भुगत रहे हैं।" लेकिन सत्य तो यह है कि भगवान् का हाथ हमारे सर से कभी उठा ही नहीं था! उनकी कृपा हर पल हम पर बनी रहती है, हम बस उसके प्रति सचेत नहीं होते हैं। इसलिए हमें हमेशा यह मान कर चलना है कि हम भगवान् की छत्रच्छाया में ही हैं, चाहे हमारे साथ कुछ भी क्यों न हो, चाहे वह बुरा हो, या अच्छा हो।

उस दिन 'इंटर्नेट' पर मैंने एक कहानी पढ़ी। वह थी तो छोटी-सी, सामान्य और बहुत ही प्रचलित कहानी, लेकिन वह मुझे कितना गहरा पाठ पढ़ा गयी, ठीक वही सत्य मेरे सामने ले आयी जिसका मैं अभी ज़िक्र

कर रही थी।

बहुत पहले की बात है। किसी देश में एक राजा राज्य करते थे। उनकी प्रजा उनको बहुत सम्मान देती थी। उनको सत्य से, न्याय से, और अपनी प्रजा से इतना प्रेम जो था! यह स्वाभाविक था कि सभी राजाओं की तरह उन्हें भी शिकार खेलना बहुत अच्छा लगता था। तो एक दिन वे निकल पड़े अपनी पूरी राज-टोली के साथ, घने जंगलों की तरफ़। तेज़ रफ़्तार से भागते हुए घोड़े, भौंकते हुए डरावने कुत्ते, और फिर राजा के साथ उनके ख़ास मन्त्रीजी। मगर उस दिन शायद राजा के नक्षत्र अच्छे नहीं थे। क्योंकि शिकार करते-करते, तेज़ रफ़्तार से भागते हुए वे घोड़े से गिर पड़े। उनको चोटें काफ़ी आयीं, पाँव की हड्डी टूट गयी और... अफ़सोस की बात यह कि दाहिने हाथ की एक उँगली पूरी तरह से कट कर गिर गयी। घायल राजा को शिकार बीच राह में ही छोड़ कर अपने महल को लौटना पड़ा। जायज़ है कि इससे वे बहुत ही नाख़ुश थे! अगले ही दिन उन्होंने दरबार बुलाया। इस दुर्घटना के लिए उन्होंने मन्त्रीजी को दोषी ठहराया, क्योंकि उन्होंने महाराज से यह कह दिया था कि राजन्, ईश्वर जो करते हैं भले के लिए ही करते हैं। मन्त्री को काल-कोठरी में क़ैद कर दिया गया!

कुछ समय बाद, जब राजा बिलकुल स्वस्थ हो गये तो वे फिर एक बार शिकार करने घने जंगलों की तरफ़ निकल पड़े। कुछ देर तक तो सब कुछ ठीक ही रहा... लेकिन अचानक उन्होंने अपने-आपको जंगलों के बीचोबीच बिलकुल अकेला पाया। इर्द-गिर्द देखा तो उनकी पूरी की पूरी वफ़ादार टोली ग़ायब थी। और उसकी जगह था आदिवासियों का एक ख़ूँख़ार झुण्ड! उनको देखते ही उनके पूरे शरीर में डर की लहर कौंध गयी। ये कोई साधारण आदिवासी नहीं, बल्कि नरभक्षक आदिवासी थे! राजा के हाथ-पैर बाँधने में उनको देर नहीं लगी, फिर उन्हें उठा कर, पुरस्कार की तरह प्रदर्शित करते हुए, वे बस्ती की ओर चल पड़े। उस शाम वहाँ पर बहुत बड़े अग्नि-कुण्ड के चारों ओर ख़ूब जश्न मनाया गया। ख़ूब नाच-गाना हुआ, डुगडुगी के शोर से पूरा जंगल गूँज उठा। सब-के-सब बहुत ख़ुश थे। आज उनकी बरसों की तपस्या पूरी हुई थी, बलि के लिए एक योग्य पात्र मिला था। वह कोई साधारण मानव नहीं, बल्कि पूरे प्रदेश का राजा था! अब इस विशेष इनसान की बलि चढ़ी तो सारे गाँव में अच्छा

ही अच्छा होगा। मूसलाधार वर्षा होगी तो जंगल के पेड़-पौधों पर फल-फूल होंगे। युवक-युवतियों का मिलन होगा। जंगली जानवरों का अच्छा शिकार होगा। बस, जंगल में मंगल ही मंगल होगा!

बिचारे राजा को नहला-धुला कर, उनकी पोशाक बदल कर, उनके हाथ-पैर बाँध कर, उन्हें बलि के लिए बिलकुल तैयार किया गया। उन्होंने तो अपनी फूटी क़िस्मत के सामने सर झुका दिया था। सोच रहे थे, "इतिहास में मेरा नाम अमर तो हो जायेगा, मगर ग़लत पन्ने पर मेरा नाम लिखा जायेगा, मज़ाक उड़ा कर ही सभी मेरा ज़िक्र करेंगे! हे भगवान्, हो सके तो मुझ पर रहम कर। मैं शायद स्वार्थी हूँ, पापी हूँ, इसलिए राजा होते हुए भी मेरा अन्त इतना भयानक होने वाला है..." उन्होंने आँखें मूँद लीं, जिनमें से आँसू बहते ही जा रहे थे... अन्तिम घड़ी नज़दीक आ रही थी, डुगडुगी की आवाज़ और रफ़्तार ज़ोर पकड़ रही थीं...

और फिर अचानक सब कुछ बन्द! नाच-गाना-बजाना, आदमियों का चिल्लाना, सब कुछ बन्द! पूरे जंगल में एक अजीब सन्नाटा छा गया। कुछ देर बाद जब राजा ने आँखें खोलीं, तो देखा कि उनके हाथ बँधे हुए नहीं थे। इतना ही नहीं, वहाँ मौजूद सभी लोग उनके दाएँ हाथ की तरफ़ एकटक देख रहे थे—वही हाथ जिस पर क़हर टूट पड़ा था, जिसकी एक उँगली शिकार के समय कट गयी थी और जिसकी वजह से ग़ुस्से में आकर उन्होंने मन्त्री को काल-कोठरी में बन्द कर दिया था। राजा को विश्वास नहीं हो रहा था, न ही उनकी समझ में आ रहा था कि हो क्या रहा है! एक पल मौत सर पर मँडरा रही थी और दूसरे ही पल वे स्वतन्त्र हो गये थे। उन्हें जंगल के किनारे, ग़ुस्से में पटक दिया गया था! इस अजीब घटना का क्या रहस्य था? राजा किसी तरह भटकते हुए, जंगली जानवरों से बचते हुए, भूखे-प्यासे राजधानी की तरफ़ जाने वाले रास्ते तक पहुँचे, फिर बेहोश होकर गिर पड़े।

वहाँ से गुज़रते कुछ गाँववालों ने उन्हें भिखारी समझ कर उन पर दया की, और राजधानी ले आये। फिर पता चला कि वे तो उनके अपने ही राजा थे जिनको उन्होंने मृत समझ लिया था। क्योंकि आज तक तो उन नरभक्षक आदिवासियों के चंगुल से कोई नहीं बच पाया था! तो यह चमत्कार हुआ कैसे?

दरबार बुलाया गया, मन्त्रि-मण्डल इकट्ठा हुआ। वहाँ पर यह बात पता चली कि जब नरभक्षक आदिवासी किसी की बलि चढ़ाते हैं तो उस व्यक्ति में कोई भी शारीरिक दोष नहीं होना चाहिये! राजा तो लम्बे-चौड़े और सुन्दर थे... लेकिन उनके दाहिने हाथ में एक उँगली जो नहीं थी! अन्तिम पल में नरभक्षकों ने यह खोट देख ली, और उन्हें बलि के क़ाबिल नहीं समझा। तो इस कारण वे आज बख़्श दिये गये थे!

यह सुन कर राजा को बहुत शर्म आयी। इसी उँगली के कट जाने से वे आज ज़िन्दा थे, और इसी उँगली के कट जाने से उन्होंने अपने मुख्य मन्त्री को दोषी मान कर, उन्हें काल-कोठरी में क़ैद कर रखा था!

राजा काल-कोठरी में ख़ुद उतरे, मन्त्रीजी को रिहा करते हुए, उनके सामने विनम्रता से हाथ जोड़ कर बोले, "मन्त्रिवर, मुझे माफ़ कर दीजिये, मैं अपने किये पर बहुत शर्मिन्दा हूँ। आज मैं ज़िन्दा हूँ तो आप ही की बदौलत।" मन्त्रीजी मुस्कुराते हुए बोले, "राजाधिराज! मुझे यूँ शर्मिन्दा न करें। मुझे तो आपका शुक्रिया अदा करना चाहिये! अगर आप मुझे काल-कोठरी में बन्द नहीं करते, अगर आपके साथ मैं शिकार पर जाता, तो वे आपको छोड़ कर मुझे बलि पर चढ़ा देते, क्योंकि मुझमें तो वे कोई दोष नहीं पाते! इसलिए मुझे सज़ा देकर आपने मेरी जान बचायी है, इसके लिए मैं आपका बहुत-बहुत आभारी हूँ!"

तो इसे कहते हैं "छद्मवेश में छिपा आशीर्वाद"! हमारी ज़िन्दगी में जो कुछ भी घटता है, चाहे वह कितना ही बुरा या कितना ही अच्छा क्यों न हो, किसी कारण से घटता है। वह कारण शायद हमें नहीं दीखे मगर हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि भगवान् की कृपा हम पर सदैव बनी रहती है!

—कनिष्ठा

ठीक उस समय जब ऐसा लगता है कि चीज़ें बद से बदतर होती जा रही हैं, ठीक उसी समय हमें श्रद्धा की परम क्रिया करनी चाहिये और यह जानना चाहिये कि कृपा हमें कभी धोखा नहीं देगी।

हमारे जीवन के हर क्षण, सभी परिस्थितियों में भागवत कृपा सभी कठिनाइयों को पार करने में हमें सहायता देती है। —*श्रीमाँ*

भक्ति के बिना प्रगति नहीं होती

अगला पक्ष है भक्ति। श्रीअरविन्द ने कहा है कि कोई चाहे जितना बड़ा योगी क्यों न हो, उसने चाहे जितनी तपस्या क्यों न की हो, अन्त में उसे भगवान् पर ही निर्भर रहना पड़ता है। उन पर पूरी तरह निर्भर रहना भक्ति का, प्रेम का मार्ग है। अगर तुम किसी व्यक्ति से प्रेम करते हो तो यह हिसाब नहीं लगाते कि उसके लिए तुमने क्या-क्या न्योछावर किया है। तुम्हें उससे ख़ुशी ही होती है, तुम्हें न्योछावर का ख़याल तक नहीं आता क्योंकि तुम उसके बिना रह ही नहीं सकते। तुम्हें भगवान् से प्रेम करना चाहिये, उनसे प्रेम करो; भौतिक रूप से प्रेम करो (यह पूजा, आरती वगैरह का साधारण तरीक़ा है) मन से प्रेम करो, प्राण से प्रेम करो, चैत्य से प्रेम करो, उनकी सृष्टि में उनके साथ प्रेम करो।

योग का एक पक्ष है, उन्हें हर चीज़ में देखना, और जब तुम उन्हें हर चीज़ में देखो तो फिर किसके साथ झगड़ सकते हो। तब फिर संसद् और विधानों की ज़रूरत ही क्या होगी? यह सब समय का अपव्यय है, देश के धन और उसकी ऊर्जा का अपव्यय है। तुम संसद् में कुछ प्रस्ताव पारित करके या बहुमत से क़ानून बना कर नया जीवन शुरू नहीं कर सकते। श्रीअरविन्द के योग द्वारा एक नयी विचार-धारा आनी चाहिये, श्रीअरविन्द के योग से एक नयी गति शुरू होनी चाहिये। मैं ये बातें तुमलोगों से उत्तरदायित्व का भाव बढ़ाने के लिए कह रहा हूँ ताकि हम सब अपने-आपको भगवान् के प्रति खोल सकें। हमारा पहला उत्तरदायित्व है, अपने-आपको भगवान् के प्रति खोलना, उनका यन्त्र बनना और जगत् के परिवर्तन के लिए काम करना। हमारा योग जीवन से निवृत्ति का योग नहीं है। भक्ति-मार्ग भगवान् के प्रति उत्सर्ग का मार्ग है। भक्ति प्रेम की, भगवान् के प्रति प्रेम की वृत्ति है, उसके बिना कोई प्रगति नहीं होती।

और अब अभीप्सा। अभीप्सा का अर्थ है भगवान् की सतत स्मृति। तुम हमेशा भगवान् को याद रखो और अभीप्सा करो कि वे सदा तुम्हारे सामने प्रकट होते रहें और तुम हमेशा उनकी उपस्थिति का अनुभव कर

सको, अपने-आप भी और अपने चारों ओर भी, तुम्हारे शरीर का प्रत्येक कोषाणु उनकी उपस्थिति का, उनकी शक्ति का उत्तर दे सके, तुम्हारे अन्दर हर चीज़ उनकी हो, तुम्हारा अपना कुछ न हो। अगर हम इस स्थिति तक पहुँच जायें तो यह हमारे जीवन की परिपूर्ति होगी और अभीप्सा ही इस परिवर्तन को लाने वाली सर्वकुञ्जी है।

और अन्त में आता है समर्पण। समर्पण के दो पक्ष हैं। हम अपने भले-बुरे सबका उत्सर्ग कर सकते हैं। अगर हम अपने बुरे का भी भगवान् को उत्सर्ग कर दें तो वह भी रूपान्तरित हो जाता है। हमारा समर्पण सर्वांगीण होना चाहिये। हमें यह न कहना चाहिये, "अरे, यह तो बुरा है, मैं इसे कैसे समर्पित कर सकता हूँ।" यह एक और तरह का अहंकार है। अगर वह अच्छा है तो ठीक है क्योंकि अच्छा हमारा अपना नहीं है। हम तो उन्हें केवल वही दे रहे हैं जो उनका अपना है। इसी प्रकार बुरा भी हमारा अपना नहीं है क्योंकि वह भी भगवान् का हिस्सा है, प्रकृति का हिस्सा है, इसलिए उसे भी समर्पित कर देना चाहिये। यह यज्ञ की भाँति है, जो कुछ यज्ञाग्नि में जाता है पवित्र हो जाता है। इसके लिए हमारे अन्दर सहन-शक्ति होनी चाहिये क्योंकि वैश्व प्रकृति बनी रहती है। अगर हमने अपने अन्दर कुछ दोषों पर विजय पा भी ली है फिर भी वे बने रहते हैं क्योंकि वे वैश्व प्रकृति से प्रवाहित होते हैं। इसलिए हमको सहन करना और उत्सर्ग करना सीखना चीहिये। यह समर्पण का एक और रूप है।

मैं तुम सबको विश्वास दिलाता हूँ कि ये पाँच (पारदर्शकता, श्रद्धा, भक्ति, अभीप्सा, समर्पण) अलग-अलग नहीं हैं और इन्हें अपने अन्दर पैदा करना कठिन नहीं है—यदि हम निश्चय कर लें तो ये मनोवैज्ञानिक मार्ग बन जाते हैं। लेकिन हमें अपने दैनिक जीवन में भगवान् की ओर बढ़ने के लिए क्या करना चाहिये?

मैं पहले नींद और स्वप्न की बात लूँगा क्योंकि हम अपने जीवन का एक तिहाई समय तो सोते ही रहते हैं। हमें जानना चाहिये कि रात के आठ घण्टों में भगवान् के निकट होने के लिए अपने स्वप्नों को कैसे परिष्कृत करें। सोने से पहले पहली चीज़ है ध्यान करना। एकदम पड़ कर सो न जाओ। अगर तुम भगवान् को प्राप्त करना चाहते हो तो जीवन में कुछ नियन्त्रण होना चाहिये। खेल-कूद, संगीत, चित्रकला; सभी में काफ़ी नियन्त्रण

की ज़रूरत होती है। भगवान् को पाने के लिए और भी ज़्यादा नियन्त्रण, दिव्य नियन्त्रण की ज़रूरत होती है। भोजन ज़रा जल्दी कर लो। एक बार तुमने शरीर में अतिमानसिक रूपान्तर को अपना लक्ष्य बना लिया तो तुम्हें पूरी तरह इसमें लग जाना होगा। तुम यह नहीं कह सकते कि इसके लिए आधा घण्टा काफ़ी है। इसका मतलब यह होगा कि तुम बाक़ी साढ़े तेईस घण्टे तैयार न होगे। लेकिन एक बार तुमने यह लक्ष्य बना लिया तो तुम्हारे सभी क्रिया-कलाप उस पर केन्द्रित होने चाहियें।

हाँ, तो तुम ज़रा जल्दी भोजन कर लो और कुछ समय ध्यान करो। सोने से आधा घण्टा पहले लेट जाओ। अगर तुम अतिमानसिक जीवन के लिए अभीप्सा करते हो तो माताजी या श्रीअरविन्द की कोई पुस्तक पढ़ो और यह संकल्प करो कि मैं रात के बारे में सचेतन रहना चाहता हूँ। प्रार्थना करो कि भगवान् तुम्हें उस अनुभूति की ओर ले जायें जो वे तुम्हें देना चाहते हैं। तुम्हारे जीवन में तुम्हारे और भगवान् के बीच पूर्ण सहयोग होना चाहिये। जब तुम सवेरे उठो तो एकदम ताज़ादम होकर उठो और उनकी उपस्थिति का अधिकाधिक अनुभव करो। तुम्हें अपनी रात के बारे में सचेतन होना और उसे याद रखना चाहिये।

सवेरे जब तुम उठो तो बिस्तर से एकदम उछल न पड़ो। शान्त रहो। अपने बिस्तर के पास एक दैनन्दिनी रखो और उसमें अपने रात के अनुभव लिख लिया करो, उन भावनाओं को भी लिखो जिनके साथ तुम उठते हो। रात के स्वप्नों को भी याद करो कि अन्त में क्या हुआ और उससे पहले क्या हुआ? हम स्वप्न, अन्तर्दर्शन आदि की व्याख्या की बात किसी और दिन लेंगे। आज के लिए इतना काफ़ी है कि अपने जीवन को भगवान् के बारे में ज़्यादा सचेतन बनाने का निश्चय करें।

जब तुम सोकर उठो तो प्रार्थना करो। मुझे जो प्रार्थनाएँ बहुत अच्छी लगती हैं उनमें से एक है श्रीमाँ की 'सवेरे की प्रार्थना' जिसे शायद तुम सब जानते होगे, "हे दिव्य जननि, वर दे कि आज का दिन हमारे लिए तेरी इच्छा के प्रति पूर्णतर उत्सर्ग लेकर आये, तेरे कर्म के लिए हमारी पूर्णतर भेंट लाये, स्वयं अपने बारे में विस्मरणशीलता, अधिक प्रदीप्ति और शुद्धतर प्रेम लेकर आये।" श्रीमाँ की यह 'सवेरे की प्रार्थना' हर रोज़ पढ़ो, उसके एक-एक वाक्य पर ध्यान लगाओ। तुम देखोगे कि इससे कितनी सहायता

मिलती है। इसमें केवल दस मिनट लगेंगे, लेकिन इससे हम अपने जीवन में बहुत परिवर्तन देखेंगे। यह एक अद्‌भुत प्रार्थना है। हमें इसे पढ़ना और इस पर ध्यान करना चाहिये।

(क्रमशः)

—नवजातजी

"मेरी नन्हीं मुस्कान" के नाम पत्र

('मेरी नन्हीं मुस्कान' के नाम, यह उन पहले बच्चों में से थी जिन्हें आश्रम में प्रवेश मिला था। यह चौदह वर्ष की अवस्था में आयी थी। नन्हीं मुस्कान बहुत वर्षों तक माताजी के कपड़ों पर कशीदाकारी करती रहीं और फिर उनकी व्यक्तिगत सेविकाओं में से एक हो गयीं। उन्होंने सत्रह वर्ष की अवस्था में माताजी को पत्र लिखना शुरू किया था।)

मेरी प्यारी माँ,

मैंने देखा है कि 'क' ने अपना बुरा व्यवहार बन्द नहीं किया है। मैं उससे घृणा करती हूँ...

यह एक बहुत बड़ा शब्द है! कहा जाता है कि घृणा प्रेम का उलटा रूप है। बहरहाल यह एक ख़तरनाक भाव है जो तुम्हें हमेशा उस व्यक्ति के अधीन रखता है जिससे तुम घृणा करती हो: घृणा करने का अर्थ है कि तुम अभी तक उससे आसक्त हो। सच्ची वृत्ति होगी पूर्ण उदासीनता।

२७ जनवरी १९३३

मेरी प्यारी माँ,

आज मैंने आपसे दस घण्टे तक शरीर से प्रार्थना की।[१]

अगली बार जब मैं आपसे मिलूँगी तो मैं आपको बतलाऊँगी कि कशीदाकार साड़ी को फ़्रेम पर किस तरह जमाते हैं। फ़्रेम साड़ी के जितना बड़ा होना चाहिये।

१. श्रीमाँ का एक वाक्य है, "भगवान् के लिए काम करना शरीर से प्रार्थना करना है।"

माँ, क्या साड़ियों पर सचमुच अच्छी तरह कशीदा करने के लिए मुझे एक ऐसा बड़ा फ़्रेम नहीं मिल सकता?

अगर मैं तुम्हें इतना बड़ा फ़्रेम दूँ तो फिर उसे रखने के लिए एक कमरा भी बनाना होगा जिसमें वह समा जाये! १३ फ़रवरी १९३३

मेरी प्यारी माँ,

मैंने दस घण्टे तक साड़ी पर काम किया। मेरा ख़याल है कि मैं इसे २४ अप्रैल से पहले ख़तम कर लूँगी।

माताजी, मेरे पास आपसे कहने के लिए कोई नयी बात नहीं है।

तुम सुन्दर और कुशल कार्यकर्ता हो, मेरी नन्हीं मुस्कान, और मुझे तुम पर और तुम्हारे काम पर गर्व है, वह कितना सुन्दर है। मैं देख रही हूँ कि तुमने फ़्रेंच में एक भी भूल किये बिना पत्र लिखा है!

१४ फ़रवरी १९३३

प्यारी माँ,

आज मैंने अपने शरीर द्वारा आपसे नौ घण्टे प्रार्थना की। अब मैं फिर से अपने काम में पहले जैसी नियमित हो गयी हूँ।

माँ, कहिये, और क्या?

यह अच्छा है, मेरी नन्हीं मुस्कान, सत्ता का सन्तुलन नियमित कार्य पर आधारित होता है। २७ फ़रवरी १९३३

क्या तुमने आज की तारीख़ पर ध्यान दिया—३.३.३३?

क्या तुम्हें पता है कि यह ग्यारह वर्ष में केवल एक बार होता है? ग्यारह वर्ष पहले १९२२ की फ़रवरी में २.२.२२ लिखना सम्भव था और अब से ग्यारह वर्ष बाद अप्रैल के महीने में ४.४.४४ लिखना सम्भव होगा और यह चलता रहेगा। है न मज़ेदार?

३ मार्च १९३३

मेरी प्यारी माँ,

'भौतिक में अतिमानसिक सौन्दर्य'[१] का क्या मतलब है? क्या ये सब चीज़ें—ये कलाकृतियाँ और भगवान् के लिए किये गये सुन्दर कार्य—क्या ये भौतिक में अतिमानसिक सुन्दरता की अभिव्यक्ति हैं?

नहीं, यह सब केवल वैश्व सामञ्जस्य की अभिव्यक्ति है, जो मानों सृष्टि के ठीक हृदय में स्थित है। अतिमानसिक सौन्दर्य बहुत अधिक ऊँचा और बहुत अधिक पूर्ण है। वह ऐसा सौन्दर्य है जिसमें कुरूपता का दाग नहीं है और उसे सुन्दर दीखने के लिए कुरूपता के सामीप्य की ज़रूरत नहीं होती। जब अतिमानसिक शक्तियाँ अभिव्यक्त होने के लिए जड़-भौतिक में उतरेंगी तो यह पूर्ण सौन्दर्य अपने-आपको बिलकुल स्वाभाविक और सहज तरीक़े से सभी रूपों में प्रकट करेगा।

६ मार्च १९३३

जब मैं तुम्हारी साड़ियाँ पहनती हूँ तो मुझे बहुत ख़ुशी होती है, लेकिन मैं उन्हें वैसी ही सावधानी से रखना चाहती हूँ जैसे कलाकृतियों को रखा जाता है, इसीलिए मैं उन्हें बहुत अधिक नहीं पहनती।

९ मार्च १९३३

मेरी प्यारी माँ,

आज सवेरे आपने मुझे एक फूल दिया जिसका अर्थ है, 'अतिमानसिक ज्योति की ओर मुड़ी हुई चेतना'[२]। इसका अर्थ क्या है? मैं समझ नहीं पायी।

अगर 'अतिमानसिक' की जगह 'दिव्य' शब्द रख दिया जाये तो क्या तुम्हारे लिए बात ज़्यादा स्पष्ट हो जाती है?

इसका मतलब है ऐसी चेतना जो साधारण जीवन के प्रभावों और क्रियाओं से भरी नहीं है, जो भागवत प्रकाश, शक्ति, ज्ञान, आनन्द के प्रति

१. हलके सुनहरे-नारंगी जवाकुसुम के लिए माताजी का दिया हुआ नाम।
२. पीले-नारंगी रंग का सूरजमुखी।

अभीप्सा में एकाग्र है।

अब आया समझ में?

२३ मार्च १९३३

मेरी प्यारी माँ,

क्या आपने अपने गाउन पर मेरे छोटे-छोटे गुलाब देखे हैं? क्या वे अच्छे हैं?

वे बहुत मोहक हैं! यह कहना असम्भव है कि कौन-सा असली है और कौन-सा नक़ली, और यह भी ज़रूर हो सकता है कि नक़ल असल से ज़्यादा सुन्दर हो। तुमने देखा था कि आज शाम को जब मैं छत पर टहलने गयी तो वही गाउन पहने हुए थी।

६ अप्रैल १९३३

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ८७-९१

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—१८०रु.; तीन वर्ष—५२०रु.; पाँच वर्ष—८६०रु.

अधिष्ठाता : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू, पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिका : वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

प्रेम

क्या चैत्य प्रेम स्वयं अपनी शक्ति द्वारा 'उच्चतम सत्य' तक पहुँच सकता है?

हाँ, निश्चित रूप से।

कोई यह कैसे जान सकता है कि उसके अन्दर भगवान् के लिए पूरा चैत्य प्रेम ही है?

अहंकार की अनुपस्थिति से, शुद्ध भक्ति से, विनम्रता और भगवान् के प्रति समर्पण से।

क्या चैत्य प्रेम हमेशा भगवान् की ओर मुड़ा होता है?

वह कभी-कभी किसी मानव व्यक्ति की ओर मुड़ा होता है, लेकिन उसे अपना पूरा सन्तोष तब तक नहीं मिलता जब तक वह भगवान् की ओर न मुड़े।

क्या चैत्य प्रेम भागवत प्रेम के जैसा नहीं है?

नहीं। मानव चैत्य प्रेम भी होता है जिसमें किसी मानव सत्ता के प्रति निःस्वार्थता, निष्ठा और आत्म-दान की प्रवृत्ति होती है।

मानव प्रेम अगर चैत्य मोड़ ले ले तो क्या वह भागवत प्रेम की ओर नहीं ले जाता?

तुम एक से दूसरे में जा सकते हो।

क्या मानव आवेगों से भागवत प्रेम को अभिव्यक्त किया जा सकता है?

मानव आवेगों से भला भागवत प्रेम को कैसे अभिव्यक्त किया जा सकता है? तब वह मानव बन कर रह जाता है, भागवत नहीं। अगर तुम्हारा यह मतलब है कि मानव में भागवत प्रेम के सदृश कोई चीज़ होती है जो

भागवत प्रेम में बहुत अधिक मात्रा में होती है, तो ऐसा हो सकता है।

क्या हम आध्यात्मिक सत्य को चैत्यभावापन्न मानव प्रेम से उपलब्ध कर सकते हैं?

नहीं—व्यक्ति सिर्फ़ इसकी कुछ धुँधली-सी झलक पा सकता है, उसे चरितार्थ नहीं कर सकता।

क्या लोगों को योग आरम्भ करने के लिए भागवत प्रेम ही प्रेरणा नहीं देता?

नहीं—वह मानव प्रेम हो सकता है जो भगवान् की ओर मुड़ता है। परन्तु योग आरम्भ करने के कई उद्देश्य हो सकते हैं, केवल प्रेम नहीं।

क्या भागवत प्रेम में कोई आवेग नहीं होता?

उसमें तीव्र अनुभूति होती है—मनुष्य जिसे आवेग कहता है वह नहीं—क्योंकि वह तो सतही और क्षणिक होता है। भागवत प्रेम की तीव्रता सत्ता में कहीं भी, कभी भी अशान्ति पैदा नहीं करती।

क्या आवेग आनन्द की अभिव्यक्ति है?

आवेग आनन्द को कैसे अभिव्यक्त कर सकता है? आवेग चेतना में आनन्द के स्पर्श का एक परिणाम हो सकता है, लेकिन वह आनन्द को अभिव्यक्त नहीं करता। आनन्द अपने-आपमें स्वयं अपनी अभिव्यक्ति है।

भागवत प्रेम को प्रकट करने का सही तरीक़ा क्या है?

भगवान् की ओर अधिकाधिक निःस्वार्थता से मुड़ना।

क्या पूर्ण परिवर्तन से पहले भागवत प्रेम को पाना सम्भव है?

आंशिक रूप में।

क्या प्रेम ही चैत्य की एकमात्र शक्ति है या उसमें अन्य शक्तियाँ भी होती हैं?

चैत्य में प्रचुर शक्तियाँ होती हैं—श्रद्धा, चैत्य दृष्टि, भगवान् के प्रति कृतज्ञता, अभीप्सा की आग और कई अन्य।

क्या चैत्य प्रेम में कोई अभिमान होता है?

लेशमात्र भी नहीं। अभिमान निरा अहंकार है।

क्या साधारण मानव प्रेम चैत्य प्रेम की परछाईं नहीं है?

नहीं, निश्चित रूप से नहीं। साधारण मानव प्रेम प्राणिक, भावुक और शारीरिक तथा हमेशा अहंकारी होता है—आत्म-प्रेम का एक रूप। उसमें चैत्य तत्त्व बहुत कम लोगों में, अल्पसंख्यक में पाया जाता है।

क्या भौतिक में चैत्य प्रेम का कोई आविर्भाव हो सकता है?

वहाँ हो सकता है—लेकिन उसमें कामुकता का कोई दाग़ नहीं होना चाहिये।

क्या प्राणियों में चैत्य प्रेम होता है?

उनका यौन-प्रेम प्राणिक-शारीरिक होता है—बाक़ियों में भी ज़्यादातर यही होता है। उच्च प्रकार के प्राणियों में कुछ चैत्य तत्त्व आ सकता है। कुछ प्राणियों में मानव के प्रति चैत्य स्नेह होता है।

हम माँ के प्रति चैत्य-भक्ति, मानसिक भक्ति और प्राणिक भक्ति में कैसे भेद कर सकते हैं?

चैत्य उस प्रेम से बना है जो बिना किसी माँग के अपने-आपको देता है, प्राण उस इच्छा से जो माँ के अधीन और उनकी सेवा करना चाहती है, मन उस श्रद्धा से और माँ जो हैं, जो वे कहती और करती हैं, उस सबके प्रति शंकारहित स्वीकृति से। हालाँकि, ये सभी, बाहरी संकेत हैं—आन्तरिक चरित्र में ये पूरी तरह पहचाने जा सकते हैं परन्तु उन्हें ऐसे शब्दों में नहीं रखना चाहिये कि वे एक दूसरे से भिन्न हों।

क्या मानसिक और प्राणिक भक्ति का हमारे योग में कोई उपयोग नहीं है?

किसने कहा कि नहीं है? जब तक वह सच्ची भक्ति हो, समस्त भक्ति का एक स्थान होता है।

क्या चैत्य भक्ति और पूर्ण भक्ति समान होती हैं?
वह पूर्ण भक्ति का आधार होती है।

चैत्य आवेग और चैत्य भक्ति के बीच क्या अन्तर है?
भक्ति चैत्य आवेग है, चैत्य भावना है जो भगवान्, गुरु आदि की ओर ले जाती है।

"प्रेम भक्ति" का क्या अर्थ है? सरल भक्ति से वह किस तरह से भिन्न है?
मेरे ख़याल से भक्ति वह है जिसका आधार प्रेम है; पूजा की, निवेदन की, श्रद्धा की, आज्ञाकारिता इत्यादि की, प्रेमरहित भक्ति भी हो सकती है।

अक्सर मैं सभी में माँ को और माँ को सभी में देखने की अभीप्सा रखता हूँ। क्या वह पूरी होगी?
योग में सभी में माँ को और माँ को सभी में देखना आवश्यक है। ऐसा नहीं होने का कोई कारण नहीं है।

अक्सर मेरे अन्दर एक तीव्र भावना उठती है कि मैं माँ से बहुत दूर हूँ। मेरे अन्दर यह भावना क्यों होती है?
यह भौतिक या बाहरी सत्ता की भावना है जो अपने अज्ञान में माँ की निकटता को अनुभव करने में असमर्थ होती है।

माँ से दूर होने की इस भावना पर कैसे विजय पायी जा सकती है?
माँ हमेशा हमारे समीप और हमारे अन्दर होती हैं, मन और प्राण का धुँधलका ही उन्हें देखने या अनुभव करने नहीं देता। यह वह ज्ञान है जिसे मन को मज़बूती से पकड़े रहना चाहिये।

दूसरों के साथ सामञ्जस्य और सद्भाव का सम्बन्ध बनाये रखने का सही तरीक़ा क्या है?

यौगिक जीवन में केवल चैत्य ही है जो यह कर सकता है। मन और प्राण केवल इस या उस व्यक्ति के साथ—जिनसे उनकी मानसिक या प्राणिक आत्मीयता हो—ऐसा कर सकते हैं। और यह सच्ची चीज़ नहीं है।

अगर मेरा प्रेम माँग के साथ जुड़ा हुआ हो तो क्या वह प्राणिक प्रेम है?

हाँ, प्राणिक प्रेम की यही प्रकृति है। वह कामना और दावे या अधिकार की भावना पर आधारित होता है; चैत्य प्रेम का आधार होता है—अपने-आपको दे देना।

"अगर तुम मुझसे प्रेम करोगे, मैं तुमसे प्रेम करूँगा", क्या यह प्राणिक प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं है?

हाँ—प्राणिक प्रेम की सौदेबाज़ी।

"भले ही तुम मुझसे घृणा करो या मेरी परवाह न करो, मैं तुमसे प्रेम करूँगा", क्या यह प्राणिक प्रेम की अभिव्यक्ति हो सकती है?

यह एक तरह के तीव्र प्राणिक प्रेम की अभिव्यक्ति हो सकती है—परन्तु यह एक प्रकार के चैत्य प्रेम की भी अभिव्यक्ति हो सकती है।

"मैं तुमसे उतना ही प्रेम करूँगा जितना तुम मुझसे प्रेम करते हो", यह किस तरह के प्रेम को प्रकट करता है?

यह प्रेम एकदम नहीं है—यह व्यावसायिक आदान-प्रदान है।

—श्रीअरविन्द

प्रेम और स्नेह की प्यास मानव आवश्यकता है, परन्तु वह तभी शान्त हो सकती है जब वह भगवान् की ओर अभिमुख हो। जब तक वह मनुष्यों में सन्तोष की खोज करती है तब तक हमेशा निराश या आहत होती है।

—श्रीमाँ

बिखरी सम्पदा

बरखा की रिमझिम फुहारों के बीच इन्द्रधनुषी सप्तरंगों की बहार। प्रकृति का कैसा अनुपम उपहार है हमारे लिए। सप्तरंगों की इस तरलता में डूबे मन में अचानक विचार उठते हैं, क्या हम इन रंगों को बटोर सकते हैं? बाँट सकते हैं? स्वयं के ही नहीं औरों के जीवन को भी इन विविध छटाओं से सजा सकते हैं? विभूषित कर सकते हैं? क्यों नहीं?

नन्हें-नन्हें पौधों कर इठलाते, मुस्कुराते फूलों को देख क्या हमारा हृदय भी उन जैसा प्रसन्न, कोमल नहीं बन जाता? अपनी सुरभि से औरों को सुगन्धित करने का कैसा छोटा-सा, सफल प्रयास।

ग्रीष्म की कड़कती धूप में सिद्ध तपस्वी-से अचल खड़े वटवृक्ष की शीतल छाया में सुस्ताते पथिक को अनायास ही वटवृक्ष की इस निपरेक्ष उदारता का आभास तो हो ही जाता है।

अमावस की काली रात में टिमटिमाते-झिलमिलाते लक्ष-लक्ष तारे और अन्धकार में चमकते अनेक जुगनू हमारे अन्तरतम को झंकृत कर जाते हैं। और सन्देश दे जाते हैं निराशा के गर्त में डूबे हृदय में आशा का दीप जलाने का। गगन की विशालता और पर्वत की अचलता किसकी द्योतक है? कहीं यह हमारी संकीर्ण मनोवृत्ति और क्षण-क्षण विचलित होती मनःस्थिति का उपहास तो नहीं?

झर-झर बहते झरने, कल-कल करती सरिताएँ। गतिशीलता का एवं जीवन को निर्मल, पुनीत बनाने का कैसा सुन्दर उदाहरण।

पक्षियों का कूजन, भँवरों का गुञ्जन वातावरण को कैसे संगीतमय बना देते हैं। विषाद से भरे जीवन को सरस बनाने का इससे बेहतर मार्गदर्शक कोई और हो सकता है?

जिधर भी दृष्टि उठायें, प्रतिक्षण प्रकृति के इन्हीं बिखरे रूपों से गुणग्राहकता का साक्षात्कार होता है। इस बिखरी सम्पदा के गुणों को समेटें, इसकी शोभा को अंगीकार करें, और इन अनमोल सन्देशों को स्वीकारें। हम भी, आप भी, सभी।

'मधु-सञ्चय' से साभार

—अज्ञात

मैं तेरा! मैं तेरा!...

'चक्र'जी की कहानी, सम्पादिकाजी की ज़ुबानी—

आज कृष्ण-कन्हैया की वर्षगाँठ है। चारों तरफ़ उत्साह ही उत्साह उफन-उफन कर बह रहा है। सभी चराचर आकण्ठ उसमें डूबे हुए हैं। कन्हाई के जन्मदिवस के अधिकांश संस्कार पूरे हो गये हैं। महर्षि शाण्डिल्य ब्राह्मणवर्ग के साथ यज्ञ-पूजन करवा चुके हैं। धन-धान्य इत्यादि से उन सबका सत्कार भी बाबा नन्द और मैया यशोदा ने कर दिया है, वे सभी प्रसन्नहृदय अपने-अपने घरों की ओर प्रस्थान कर गये हैं। गोप-गोपियाँ भी अपने-अपने उपहार अपने कुँवर कन्हाई को भेंट कर चुकी हैं। अब आयी है कृष्ण के सखाओं की बारी...

हाँ, हाँ, कन्हाई के सखा भी उन्हें उपहार अवश्य देंगे, लेकिन देंगे अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार; उन बड़े-बड़े गोप-गोपियों में से तो किसी ने भेंट-स्वरूप कान्हा को रत्नों का हार पहनाया, किसी ने मणियों के कंकण, कोई उसके लिए बहुमूल्य वस्त्रों का जोड़ा लाया तो कोई ले आया टोकनी-भर खिलौने!

लेकिन कृष्ण के सखाओं का उपहार इन सबसे एकदम भिन्न है—

सबसे पहले आया प्रिय सखा भद्र। छूटते ही बोला—'कनूँ, मैं तुझे तिलक लगाऊँगा।' यह श्याम के जन्मदिन पर सदैव सबसे पहले आ उपस्थित होता है। फिर बोला, 'सखे, मेरे पास तो कुछ है नहीं, तेरी ही चहेती गाय, कामदा के गोबर का टीका लगा दूँ तेरे भाल पर?'

'सच! हाँ, हाँ लगा भय्या।' अब नन्दनन्दन तो मानों हर्ष से विभोर हो उठा। कान्हा ने सोचा, अरे, इतनी महत्त्वपूर्ण बात तो महर्षि शाण्डिल्य तक को न सूझी; और उसका सखा भद्र कितना बुद्धिमान् है। भला गोपकुमार का तिलक गोमय के बिना कैसे सम्पूर्ण हो सकता है?

आज कन्हाई सिर से पैर तक नूतन रत्नाभरणों से सजा हुआ है। उसकी अलकों में अनेक रंगों के रत्न-मणियों की माला गुँथी है, रत्न-जटित नन्हा-सा मुकुट सिर पर शोभायमान है। भाल पर महर्षि द्वारा लगाया चन्दन-केसर का तिलक विराजमान है जिस पर अक्षत लगे हुए हैं। भद्र ने अक्षतों के नीचे, ठीक भ्रूमध्य में अपनी अनामिका से गोबर का एक छोटा-सा

बिन्दु सजा दिया।

'बाबा, बाबा, यह मुख्य तिलक लगाना तो सब भूल ही गये थे '—कृष्ण अब बाबा को, दाऊ को, चाचा को, मैया को सबको दौड़-दौड़ कर अपने माथे का तिलक दिखला रहा है और हर्षातिरेक से कहता जा रहा है—'भद्र ने लगाया है, मेरे भद्र ने!'

और इसके साथ ही सखाओं के अद्वितीय, अनुपम उपहारों का क्रम चल पड़ा... तोक कहीं से एक तिरंगी पुष्प ले आया है—श्याम-श्वेत-अरुण तीनों रंगों की आभा उस फूल की छटा को ऐसा निखार रही है कि कृष्ण उसे अपनी हथेली पर धरे सभी जगह चक्कर लगा-लगा कर अपने मित्र के द्वारा दिये अमोल उपहार के लिए प्रशंसा बटोरता फिर रहा है, झूम-झूम कर हर एक को उसके दर्शन करा रहा है। उसके नेत्र, उसका उल्लास मुखरित हो पूछ रहा है—'ऐसी अद्‌भुत वस्तु है किसी के पास? क्या कोई भी रत्न तुलना में इस अपूर्व निधि के सामने ठहर सकता है?' और उधर तोक... एक छोटे-से उपहार को दे उसने तो मानों सारा त्रिभुवन अपनी मुट्ठी में समेट लिया। हर्ष का पुतला बना वह भी अपने सखा, यानी अपने सर्वस्व के साथ परछाईं की तरह फिर रहा है, क्या वही अकेला उनके साथ है? नहीं, नहीं... कान्हा के उतावले-मतवाले सभी सखाओं में अपने-अपने उपहार देने की होड़ मची है, कुछ धक्कम-धक्का भी हो रही है, हर एक अपनी भेंट सखा को पहले थमाना चाहता है। आख़िर कृष्ण ही बोल उठे —सखाओ! हम यहीं बैठ जाते हैं, मैं सभी के उपहार एक-एक कर के लूँगा। बीच राह में चौकड़ी जम गयी। कोई नयी-नयी किसलयों का हार पहना रहा है, किसी के हाथ में मोरपंख का गुलदस्ता है, किसी की हथेली यमुनाजी के तट की बालू से सने छोटे-छोटे पत्थरों से भरी है तो कोई और चित्र-विचित्र जंगली फूलों को थाली में सजाये खड़ा है—जितने सखा उतने उपहार और उससे भी सहस्रगुना प्रेम—कन्हाई तो उस बाढ़ में बह गया। सुध-बुध खो बैठा, प्रत्येक भेंट को सिर-आँखों से लगा, निहाल हो उठा, और गद्‌गद हो उठा उसका वह समस्त मित्र-समाज जिसके प्रत्येक सदस्य को उनके प्रियतम, उदारतम सखा ने इन्द्रासन पर बिठा दिया था।

कृष्णचन्द्र इतना प्रफुल्लित-उल्लसित तो किसी भी गोप या गोपी के उपहार को पाकर नहीं हुआ, जब कि देश-देशान्तर से आये गोप-गोपियाँ

न जाने कहाँ-कहाँ से अनमोल मणि-माणिक्य, रत्नाभरण इत्यादि सौगात के रूप में लाये थे। वैसे यह सच नहीं कि अपने अग्रजों द्वारा दिये उपहारों से वे कम आनन्दित हुए थे, लेकिन सखाओं के फूल-पत्ते, कंकड़-पत्थर, पंख आदि पाकर तो यह कन्हाई ऐसा नाचता-कूदता-फाँदता फिर रहा है जैसे धरती पर साक्षात् हर्षोल्लास मूर्तिमान् हो उठा हो!

बड़ी देर बाद जब कृष्ण तनिक अपने आपे में आया तो मैया और बाबा ने बड़े स्नेह से कहा—'लाल, अब अपने सखाओं को भी उपहार देकर उनका सत्कार करो।'

'अरेऽऽऽ, मैया, बाबा, अपने उपहारों में लीन, मैं तो बिसरा ही बैठा था इस बात को!!' और कन्हाई दौड़ आया उस राशि के समीप जो मैया ने सजा रखी थी। इस बार यशोदाजी ने अच्छी तरह समझा दिया था नन्द बाबा को कि उनका नीलमणि अपने सखाओं को ऐसी-वैसी वस्तु नहीं देना चाहेगा, इसीलिए बाबा ने महीनों लगाये हैं उपहारों के चयन में, बहुत प्रयत्न करके दूर-दूर से मँगवाये हैं।

मैया ठिठकी खड़ी रह गयीं। बाबा भी स्तब्ध देखते रह गये। इस बार भी ठीक वही हुआ जो पिछली वर्षगाँठों पर होता चला आया है। कोई प्रयास सफल नहीं हुआ। उन बहुमूल्य उपहारों में से कोई भी कृष्ण को ऐसा नहीं लगता है जिसे वह अपने किसी भी सखा को दे सके—यानी, एक भी उसकी आँखों में नहीं जँचा, उसके हृदय को नहीं भाया।

कन्हाई उन उपहारों में से कोई चमकती मणि उठाता, अपने सखा तोक को देने की सोचता और तभी तोक का दिया वह तिरंगी पुष्प उसकी दृष्टि के सामने घूम जाता और उसकी वह अनुपम भेंट के सामने वह मणि उसे काँच क्या, कौड़ी भी नहीं प्रतीत होती, बहुमूल्य मणि एकदम से परे सरका दी जाती। सखाओं के दिये पंखों, पत्थरों, किसलयों, पुष्पों के अतुल्य उपहारों के सम्मुख मणिरत्न-जटित-खचित वे सभी महार्घ उपहार उसे तुच्छ प्रतीत हो रहे थे। हर वर्ष की तरह इस बार भी वह अपने प्राण-सम बन्धुओं को प्रतिभेंट में कुछ भी नहीं दे पा रहा था। बार-बार उसका हाथ अपने भाल पर भद्र द्वारा लगाये गोबर के तिलक पर पहुँच जाता और वह निहाल हो उठता, साथ ही बहुत खिन्न भी, क्योंकि... क्या दे वह अपने मित्रगण को??? विशाल, अञ्जन-रञ्जित कमल-लोचन भर

आये नन्दनन्दन के। बलदाऊ की ओर देख कर बड़े ही करुण स्वर में पुकारा उसने—"दादा!..."

प्रत्येक, प्रत्येक वर्षगाँठ पर ठीक यही दृश्य उपस्थित होता है और हर बार दाऊ ही अपने अनुज को विभिन्न उपायों से कष्ट में से उबार लेते हैं। इस बार वे बोले—'कनूँ! तुम अपने सखाओं को देकर सन्तुष्ट हो सको ऐसी कौन-सी वस्तु हो सकती है भला? बताओ तो सही कनूँ!'

कन्हाई की भौहों पर बल पड़े, वह सोचने लगा, सोचता रहा... त्रिभुवन की कोई वस्तु उसे ऐसी न लगी जिसे देकर वह कृतकृत्य हो सके, सन्तोष से ओत-प्रोत हो जाये...। तब?

एक बार फिर कन्हैया ने बलदाऊ को निहारा। दाऊ की आँखों में झाँकते ही श्यामसुन्दर हर्षातिरेक से विह्वल हो उठा। उन नयनों से सच्चे प्रेम की जो अजस्र कौंधें छिटक रही थीं उनमें कान्हा ने अपना उपहार पा लिया...

और फिर, फेंके, बिखरे रत्नाभरणों, मणियों, वस्त्रों के बीच से कूद कर उसने सामने खड़े भद्र को अपने आलिंगन में जकड़ लिया—वाणी नहीं फूट रही, लेकिन कान्हा का रोम-रोम पुकार रहा है, "सखे! यही है मेरा प्रतिदान—'मैं तेरा, मैं तेरा'।"

तोक, सुबल, श्रीदाम—एक-एक को अपने बाहुपाश में बाँध कर कन्हैया सुध-बुध खो बैठा है। प्रत्येक सखा उससे लिपट कर अन्तरतम में यही अनुभव कर रहा है कि साँवरा उसी का प्रियतम सखा है, क्योंकि हर एक को अंक में भर कर कृष्ण का रोम-रोम यही गुञ्जारित-प्रतिगुञ्जारित कर रहा है—"मैं सर्वस्व तेरा हूँ, तेरा ही हूँ।"

भक्त को दिये भगवान् के इस उपहार के सम्मुख ब्रह्माण्ड का कौन-सा उपहार टिक सकता है भला?

—वन्दना

Space on this page is offered by:

DEORAH SEVA NIDHI

Charitable Trust Dedicated to Service
(Founder trustee: Late Shri S. L. Deorah)
25, Ballygunge Park, Kolkata - 700 019

उनकी कृपा का स्पर्श कठिनाई को सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविचल बल में परिणत कर देता है। भगवती माँ की कृपा परमेश्वर की अनुमति है, आज हो या कल, उसका फल निश्चित है, पूर्वनिर्दिष्ट अवश्यंभावी और अनिवार्य है ।

— श्रीअरविन्द

अमरनाथ शिक्षण संस्थान, मथुरा (उ.प्र.)

फोन– 0565–3240006, 9358340375

Website : anvaschool.org, Email-amarnath.mtr1@rediffmail.com

Date of Publication: 1st August 2019
(Monthly) Rs. 30

Registered: PY/47/2018-20
RNI No.18135/70

A school by The Vatika Group vatika

Nature Friendly

"My child is in Grade 4. My son's journey with this school started 5 years back.

What really drew me to the school at the first instance is the calmness that prevails in the atmosphere!

Being a doctor myself, it was very important for me that the school environment should be healthy – class rooms in MatriKiran are the most nature friendly, spacious, well ventilated, they open out to green spaces... perfect to stay in communion with nature."

Dr. Nidhi Gogia
Mother of Soham Sharma, Grade 4

ADMISSIONS OPEN
Academic Year 2018-19

ICSE Curriculum

MatriKiran
www.matrikiran.in

Junior School SOHNA ROAD
Pre Nursery to Grade 5

Senior School VATIKA INDIA NEXT
Grade 6 onwards

Junior School
W Block, Sec 49, Sohna Rd, Gurugram
+91 124 4938200, +91 9650690222

Senior School
Sec 83, Vatika India Next, Gurugram
+91 124 4681600, +91 9821786363